उद्यान

वियोगी हरि

प्रकाशकः
कुटीर-प्रकाशन
मॉडल टाउन,
दिल्ली ९

पहला संस्करण
१९६०
मूल्य
२-०-०

मुद्रक:
हिंदी प्रिंटिंग प्रेस,
दिल्ली

प्रकाशकीय

श्री वियोगी हरिजी के कुछ ऐसे निबन्धों तथा गद्य-काव्यों का यह एक संकलन है, जिनका चयन एवं संपादन उन्होंने स्वयं किया है। जिन विषयों पर, और जिन शैलियों में उन्होंने, पिछले चालीस वर्षों में, विविध रचनाएँ की हैं प्रायः उन सभीके नमूने इस संकलन में आ गये हैं।

विषय हैं, विभिन्न रचनाओं के, प्रेम-भक्ति तथा अध्यात्म, सामाजिक विषमता-निवारण व सत्व-दर्शन एवं सत्साहित्य का विचारात्मक अनुशीलन।

और, शैलियाँ हैं मोटे तौर पर तीन प्रकार की :

१. **काव्यात्मक**—मुक्तक रचनाओं तथा छोटे-छोटे भावोद्गारों में इस शैली का प्रयोग हुआ है। भाषा में प्रवाहयुक्त स्वाभाविक सरसता है, उसके सरल और कहीं-कहीं पर कुछ क्लिष्ट होते हुए भी। 'भावना', 'प्रार्थना', 'श्रद्धा-कण', 'ठंडे छींटे', 'भारतेन्दु', तथा 'प्रकाश तेरा वहाँ भी फैले' इन रचनाओं में से जो चयन किया गया है, उसमें यही शैली पाई जाती है।

२. **विविध सूक्तियुक्त वर्णनात्मक**—विषयानुरूप विभिन्न कवियों की तुलनात्मक सूक्तियों के साथ-साथ सरस भाष्यात्मक वर्णन में इस शैली का प्रयोग किया गया है। इसे 'पद्मसिंह-शैली' यह नाम भी दिया जा सकता है। इस शैली में भाषा को विविध सूक्तियों के अनुरूप ढालने का लेखक ने सफल प्रयत्न किया है।

'साहित्य-विहार' एवं 'प्रेमयोग' इसी शैली में लिखे गये हैं।

३. **व्यंग्य-प्रधान**—गंभीर वक्रोक्तियों द्वारा विशेषतः विचार-चिंतन को उत्तेजन देने के लिए इस व्यंग्य-प्रधान शैली का प्रयोग किया गया है। 'योंभी तो देखिए' के सारे ही निबन्ध इसी शैली में लिखे गये हैं।

गद्य-काव्यात्मक निबन्धों के लेखकों में निस्सन्देह श्री वियोगी हरिजी ने बहुत पहले से ही अपना एक विशेष स्थान बना लिया है। विभिन्न शैलियों की रचनाओं में भावुक एवं विचारशील लेखक की अपनी छाप स्पष्ट दीखती है। प्रचारभी कई रचनाओं का खासा हुआ है। 'तीर्थ-यात्रा' तथा 'दीनों पर प्रेम' ये निबन्ध तो बीसियों संग्रह-पुस्तकों में उद्धृत हुए हैं।

श्री वियोगी हरिजी द्वारा चुनी हुई उनकी गद्य-रचनाओं का 'उद्यान' नामक यह सुन्दर संकलन प्रकाशित करते हुए स्वभावतः हमें आनन्द होता है। आशा है कि हिन्दी-संसार में 'उद्यान' अवश्य समुचित आदर पायेगा।

जिन पुस्तकों में से इन रचनाओं को संकलित किया गया है, उनके प्रकाशकों के प्रति हम अपना हार्दिक आभार प्रकट करते हैं।

—भगवद्दत्त 'शिशु'

विषय-सूची

अभिलाषा	...	१
वह मस्ती	...	२
तू और धर्म-मज़हब	...	४
क्यों नहीं ?	...	६
हमें तो 'वह' यहीं मिलेगा	...	११
मधु-संचय	...	१५
मेरे ये निर्झर	...	१६
भक्तों के सौभाग्य	...	१७
विश्व-मन्दिर	...	१८
गागर में सागर	...	२२
लीला	...	२३
प्रार्थना-विन्दु	...	२४
प्रकाश तेरा वहाँ भी फैले	...	३२
अन्तर्कण	...	४१
साहित्य का निर्मल दर्शन	...	४७
संत-वाणी	...	५०
कबीर की बानी	...	५२
भारतेन्दु	...	५४
ब्रज-भाषा	...	६२
मनोराज्य	...	६५

अध्यात्म और भक्तियोग ... ७७
प्रेम और विरह ... ८७
कलाकार से ... १०३
शासक से ... १०७
वृद्ध से ... ११२

अभिलाषा

न प्रभो ! मुझे सुरेन्द्र का प्रमत्त मन न दो। मैं आजन्म-असमर्थ उसकी अपूर्ण कामना-पूर्ति कैसे कर सकूँगा ? मुझे तो अतिथि-सेवी दैत्यराज बलि का मन चाहिए। मेरी दृष्टि में तो देवांगनाओं के कुसुम-कन्दुक के कामोद्दीपक प्रताड़न की अपेक्षा अकिंचन अतिथि का पाद-प्रहारही अधिक आनन्ददायी है।

नाथ ! मुझे अवधेश दशरथ के राजप्रासाद का कनक-पात्र न दो। मैं तो गुह निषाद की पर्ण-कुटी का कठौता ही चाहता हूँ। कनक-पात्र में भरे दूध-दही की अपेक्षा मुझे, सच मानो, उस कठौते में भरा वन-बटोहियों का चरणोदक ही अधिक स्वादुकर प्रतीत होगा।

न, प्रभो ! मुझे धार्तराष्ट्र की मनोवृत्ति न चाहिए। मैं तो विदुर की चित्त-वृत्ति ही प्राप्त करने की अभिलाषा रखता हूँ।

मैं तुम्हारा स्वागत राजाधिराज के रूप में भला कैसे कर सकूँगा ? मैं तो तुम्हें पार्थ-सखा के ही रूप में देखना चाहता हूँ।

स्वामिन् ! मुझे राजदुलारी रुक्मिणी की राजसी प्रीति न चाहिए। मुझे तो तुम किसी पगली गोप-कुमारी की भोली भावना देदो। मैं तुम्हें द्वारकाधीश के रूप में कहाँ पहचान सकूँगा ? मेरे मनोमन्दिर में तो, प्यारे, तुम बाँसुरीवाले गोपकुमार के रूप में ही विहार कर सकते हो।

वह मस्ती

मस्ती तो, बस, वह थी। वह चाँदनी रात और वह बाँसुरी। ऊपर चन्द्र-विम्ब मन्द-मन्द मुस्करा रहा था। नीचे नशे में चूर नदी लहरों पर भूल रही थी। सारीही वन-श्री पर अमृत-फुही पड़ रही थी। समीर में

उल्लास था। हिलोरें हुलस रही थीं। फुलवारियाँ फूली न समाती थीं। क्यारियाँ रंग-विभोर थीं। कलियाँ खिल उठी थीं। पत्तियाँ थिरकती थीं। लहलही लताएँ लूम रही थीं। डहडही डालें झूम-झूमकर नाचती थीं। पत्थर पसीज उठे थे। बाँसुरी की फूँक से सभी मंत्रमुग्ध थे। आँखों में एक निराली ही मस्ती खेल रही थी।

उस फूँक में न जाने कैसा वशीकरण था! पशु-पक्षीभी उस घड़ी वैर-भाव भूल गये थे। मयूर नाचता था और सर्प उसके मण्डलाकार पंखों पर लहरा रहा था! सिंहिनी की पीठ पर करिणी झूम-झूमकर सूँड़ से थपकियाँ लगा रही थी! मृग-शावक केसरी की पूँछ खींच-खींचकर कल्लोल कर रहा था! बाँसुरी की मस्ती ने उनको जैसे किसी कच्चे धागे से बाँध रखा था।

बड़ा बाँकपन था बाँसुरी में। उसकी फूँक पर मरमिटे सुननेवाले। पकड़े न रहा चित्त। हाथ से हृदय छूट गया। आँखें भी अपनी अपनी न रहीं। तान उसकी रोम-रोम में उलझ गई। कौन किसकी सुनता? सभी झूमते थे। पैर किसीका सीधा न पड़ता था। खिंचे चले जाते थे उसी ओर। उसी-पर मस्त हो रहे थे। उसीके हो रहे थे।

बाँसुरी सुनने को किसका जी न ललचाता? उस फूँक की मस्ती सभीने खरीदी। किसीने उसपर हृदय के हीरे लुटाये, तो किसीने मन के माणिक चढ़ाये। और किसीने तो अपनी आँखों की मणियाँ ही न्यौछावर करदीं। फिरभी सस्ती ही पड़ी वह महँगी-से-महँगी मस्ती।

वह बाँसुरी आज कहाँ? वह फूँक कहाँ? आज तो उस मस्ती की एक धुँधली-धुँधली स्मृति ही रह गई है। वही स्मृति उस बाँसुरीवाले का चित्र अंतर की आँखों पर खींच रही है। वही उस प्रेम-सुधा को चखा रही है। गोपियों की तन्मयता का वही अनुभव करा रही है। चैतन्य-चन्द्र का प्रेमोल्लास वही बिखेर रही है। मीरा की विरह-विह्वलता वही बताती है। मधुमती भूमिका का रहस्योद्घाटन भी वही करा रही है। जीव को वही स्मृति शिव बना रही है। और, वह स्मृतिही आज हमारे जीवन-भवन की एक-मात्र आधार-शिला बन गई है।

तू और धर्म-मज़हब

कितनेही वादों ग्रौर कितनेही धर्म-संप्रदायों ने ग्रपने-ग्रपने दायरे में तुझे बाँध लेने का प्रयत्न किया, पर वाह रे खिलाड़ी ! साफ़ ही निकल गया। किसीके भी बन्धन में न ग्राया ग्राजतक। तुझे बाँधते-बाँधते बुद्धि खुद ही बँध गई। तुझे छूने को तर्क भी दौड़ते-दौड़ते लँगड़ाने लगा। ज्ञान का होश-हवास जाता रहा। दलील दब गई। दर्शन दाँतों उँगली दबाये रह गये। शास्त्रों को तो ग्रनेक बार मुँह की खानी पड़ी। संप्रदायों की ग्राँखें

तिलमिला गईं। मत-मज़हबों की तेरे आगे दाल न गली। इन सबोंने तेरी नई-से-नई रिसर्च की, और करते ही जा रहे हैं, पर कुछ पूरा न पड़ा। जब किसी जानकार से पूछा, कि खुदा के बारे में उसने अपने इल्म से क्या जाना तो जवाब मिला—

'यही जाना, कि अबतक कुछ न जाना!'

तू जहाँ था अबभी वहीं है, और रहेगा भी वहीं। तू जो था, अबभी वही है, और रहेगा भी वही। पर कहाँ है और क्या है—यह पूछने का सवाल नहीं। लड़कपने की कोई हद! 'खुदाई खोज मेरी ही पूरी और सच्ची है' हर कोई यही दावा कर रहा है। 'मेरा दिखाया रास्ता ही प्यारे साईं से मिला सकता है,' हर कोई यही डींग हाँक रहा है। क्या कहा जाये इस ग़ज़ब के भोलेपन पर! किसकी खोज तो सच्ची है, और किसकी कच्ची, या किसकी पूरी है और किसकी अधूरी—इस सबका जाननेहारा तो, हृदय-रमण! एक तू ही है। क्या रखा है इन दार्शनिक खोजों में, और इस मत के रास्ते में या उस मत के रास्ते में? दिल में तेरे मिलने के लिए तड़प हो, लगन हो, तो कोई भी रास्ता तेरा हाथ पकड़ा देगा, वरना अच्छे-से-अच्छे रास्ते में भी झूठी बनावट ही दिखेगी। सभी सच्चे हैं और सभी झूठे। तू मिल गया तो सब सच्चे, और पर्दे की ओट में छिपा रहा, तो फिर झूठे तो हैं ही। तेरा दीदार न मिला, तो वह खोजही किस काम की, वह रास्ताही किस मतलब का?

दुनिया बावली है, खासकर यह मज़हबी दुनिया। बावली तेरे प्रेम-रसाल का रस तो चुप-चाप चूसेगी नहीं, तेरे बेहद बाग़ के आम गिनती फिरेगी! बन्दे तेरी बन्दगी तो बजायेंगे नहीं, तेरी हस्ती की उधेड़-बुन में उलझे रहेंगे! प्यासी आँखों को तेरी रूप-सुधा तो पिलायेंगे नहीं, ये मूर्ख मतवाले तअस्सुब की शराब में मतवाले झूमते-गिरते फिरेंगे! समझे बैठे थे, कि हमभी तेरी नेह-डगर पर चल रहे हैं, पर निकला वह कोई और ही रास्ता! अपने आप धोखा खाया। गुमराह होगये। वाद-विवाद में ही बहक गये। सत्य का एक अंशभी हाथ न लगा। हर दीन की खाक छानी, तोभी तेरी ख़ाकसारी हासिल न हुई। पक्षपात के कारण किसीभी धर्म का

सार-तत्त्व अनुभव में न आया। और, पक्षपात-शून्य शायद ही संसार में कोई प्रचलित धर्म हो—मुझे तो याद नहीं पड़ता। मैंने तो जिस किसी दीन को देखा, तअस्सुब की ही आग उसमें धधकती पाई। अपने धर्म में जो जितना ही ज्यादा कट्टर, उतनी ही ज्यादा उसकी तारीफ़। कट्टर वह, जो दूसरों को काटने दौड़े। पक्का धार्मिक वह, जो सद्भाव और सहिष्णुता ठुकरा चुका हो।

दीन-मज़हब का तअस्सुब रखनेवाली बौखलाई हुई दुनिया में प्यार करने वालों की कोई क़ीमत नहीं, वहाँ तो काटनेवाले कट्टरों की इज्ज़त है।

तब सुख और शान्ति ऐसी अवस्था में कहाँ मिल सकती है? धर्मान्ध जगत् में रगड़े-झगड़े से ही लोगों को फ़ुरसत नहीं। जहाँ बात-बात में एक दूसरे का गला घोंटदे, और म्यान से तलवारें खिंच जायें, वहाँ सुख और शान्ति का सपना देखना मूर्खों के राज्य में विचरण करना नहीं तो क्या है? धर्म के पवित्र क्षेत्र में पक्षपात का विषाक्त वृक्ष जड़ जमा चुका है। प्रभो! तूही इन सारे प्रचलित मत-मज़हबों का आमूल संशोधन करे तो करे, नहीं तो यह पथभ्रष्ट सम्प्रदाय-समूह मानव-समाज को एक-न-एक दिन ले डूबेगा। संकीर्णता क्योंकि अपनी सीमा से भी आगे निकल चुकी है। सर्वात्मन्! तेरी विश्व-व्यापकता को तो लोग भूल ही गये हैं। सर्वत्र हृदयहीनता का ही साम्राज्य दिखता है। हाथ की उच्चता, मस्तक की नम्रता और हृदय की विशालता का तो मानो कोई चिह्न ही नहीं रहा। हमारे भीतर कितना ओछापन छा गया है! लड़ते-झगड़ते तो आपस में हम लोग हैं, पर चोटें सारी तेरेही ऊपर पड़ती हैं। कोई तेरे दाहिने हाथ पर चोट करता है, तो कोई बायें हाथ पर। मूर्ख जानते हुए भी यह नहीं जानते कि दोनों हाथ हैं तो परमपिता विराट् पुरुष के ही।

लीलामय! तेरे उद्यान में ऐसेभी कुछ कोकिल कूक चुके हैं, जिनकी कूक से निकली हुई सत्य और सौन्दर्य की स्वर-लहरी आजभी हमारे हृदय को विलोड़ित कर रही है। उनकी सरल कूक संसार ने सुनी, पर उपेक्षा से। तू उसे सुनकर मुस्कराया, पर अपनी भूल तूने तत्क्षण स्वीकार करली।

विद्वेष के कंटकाकीर्ण कानन में कोकिल-कूक वह व्यर्थ ही प्रतिध्वनित हुई। कौन जाने, माली के ही इशारे से, या कैसे, उन भोले प्यारे पक्षियों की गर्दन मरोड़ दी गई। सहिष्णुता पर द्वेष की विजय हुई। शैतान ने खुदा को दबा दिया—मालूम तो कुछ ऐसाही हुआ। बुद्ध ने दुःखपीड़ित विश्व को दया-पूर्ण सहानुभूति का अमित दान दिया; बदले में उस शाक्य मुनि को नास्तिक की उपाधि मिली। ईसा ने कोढ़ियों की सेवा की, पतितों को छाती से लगाया, और इसका प्रायश्चित्त उसे अपने रक्त से करना पड़ा। उस मस्ताने मन्सूर ने इस्लाम के तअस्सुब को कुचलकर 'अन् अल् हक़' की ब्रह्म-ध्वनि प्रचारित की, और धर्मान्ध मुल्लों ने उस ब्रह्मर्षि के रुधिर से अपनी सूली रँग डाली। यार लोगों ने सरमद फकीर को भी शहीद बना दिया। विद्वेषियों ने उसकाभी सर उतरवा लिया। पर वाह सरमद! सर उतारते हुए आप फरमा गये—

"उस शोख़ ने, जो मेरा यार था, सर शरीर से जुदा कर दिया—यह अच्छा ही किया! क़िस्सा ख़त्म हुआ, वरना भारी सर-दर्द था, जाता रहा।"

सरमद का सर-दर्द चला गया और विद्वेषी धर्म-व्यवसायियों का दर्दे जिगर जाता रहा। एक काँटा कसकता था, निकल गया। अच्छा हुआ, सरमद की वजह से इस्लाम संकट में पड़ गया था; अब उससे निकल आया, साफ़ वच गया। सफल हो गया एक ब्रह्मवादी का पुण्यवध। उस दयानन्द ने भी धर्म और समाज के अगुओं के आगे कुछ बेतुकी-सी हाँकी थी, जिसके लिए उसे विष-मिला दूध पीना पड़ा। यह इज्ज़त बख्शी जाती है तेरे सच्चे सेवकों को। यह पुरस्कार मिलता है तेरे ऊँचे प्रेमियों को। और यह सम्मान और यह पुरस्कार उन्हें देता कौन है? उसी परमपवित्र धार्मिक संसार के न्यायी कहलानेवाले प्रतिनिधि!

ईसा, सुकरात, मन्सूर, सरमद, दयानन्द और गांधी बचाना चाहते, तो अपने प्राणों को बचा सकते थे। अफ़सोस, कि वे मज़हब के वकील न हुए। उस तर्क से काम न लिया, जो धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म सिद्ध कर देता है। जान पड़ता है, वे लोग धर्म-मज़हब के क़ानून से अनभिज्ञ थे—वह

क़ानून, जो सियाह को सफ़ेद और सफ़ेद को सियाह कर सकता है। वे तेरे रहस्य का संदेश गली-गली यूँही सुनाते फिरते थे। वह विश्व-प्रेम का विचित्र सन्देश कट्टरों को न जँचा, न रुचा। धार्मिक राज्य-व्यवस्थापकों के कान खड़े हो गये। उन संतों के रहस्यात्मक शब्दों ने उन्हें एक ज़ोर का धक्का लगाया। मठ और मंदिर उस वज्राघात से काँप उठे। सत्ताधारियों के होश उड़ गये। राज्य-सिंहासनों की जड़ हिल गई। एक भूकम्प-सा आगया। दीन और ईमान के सौदागरों से चुप न रहा गया। कमर कसकर तैयार होगये उन काफ़िर फ़कीरों की वाहियात हलचल कुचल देने के लिए। उन्हें सफलता भी मिली अपने षडयंत्रों में। कौन जाने, उन विद्वेषियों ने ही उन संतों के खून से अपने-अपने दामन रँगे, या भगवन्! तूने ही अपने प्यारे भोले बच्चों को बौखलाई हुई दुनिया की हवा का उलटा रुख देख अपनी प्यार-भरी गोद में उठा लिया। कुछभी हो, प्रेम के शब्द-रत्न बिखेरनेवाले लामजहब संतों की अंत में होती यही दशा है। अलख जगानेवाले उन प्रेमी जोगियों की झोली में, बस, तिरस्कार और मृत्यु-दण्ड की ही भीख डालकर पुण्य और धर्म कमाया जाता है।

अब, प्रार्थना यही है कि अपने अपमानित, तिरस्कृत और दंडित जनों के बीच मुझेभी, नाथ, वहीं ले चल। उनके बीच में, जो चुपचाप तेरे ही दिखाये मार्ग पर चल रहे हों। कोई परवा नहीं, कि वे धर्म-भ्रष्ट कहे जाते हों या समाज-च्युत। मैं उन खुदमस्तों के चरणों की धूल अपने मस्तक पर चढ़ाना चाहता हूँ, जिनकी न जाति का पता हो, न धर्म का। मैं तो अब ऐसे ही गुदड़ी के लालों की क़दमबोसी करना चाहता हूँ, जो तेरी खोज में शास्त्रार्थ करना छोड़चुके हों, तर्क-शृंखला को तोड़ चुके हों; जो राम और रहीम को, बुद्ध और ईसा को अपनी बेखुदी की मस्ती में एकही नज़र से देखते हों; घृणितों और दलितों की सेवाही जिनकी दृष्टि में ईश्वर-सेवा हो। कहाँ होंगे ऐसे सच्चे सेवक? जहाँभी हों तेरे ऐसे दुलारे प्यारे संत, मुझेभी वहीं भेजदे उनके पैर पलोटने के लिए, उनके चरणों की धूल अपनी जलती हुई आँखों पर मलने के लिए।

क्यों नहीं ?

मन यदि मेरा मृग है, तो तुम्हारी सौरभित मधु-स्मृति को मैं उसका मद क्यों न कहूँ ?

तुम्हारे ध्यान-चित्र को मैं चन्द्र कह सकता हूँ कि नहीं ? यदि हाँ, तो अपने मुग्ध मन को चकोर कहने से मुझे क्यों रोकते हो ?

चंचल चित्त मेरा चातक बनने को यदि अधीर हो रहा है, तो तुम्हें स्वाति-घन बनने में आपत्ति ही क्या ?

तुम्हारे विमोहन रूप को क्या मैं श्यामल घन की उपमा दे सकता हूँ ? यदि हाँ, तो मेरे उन्मत्त मन को भी मयूर बनकर नृत्य करने दो न, प्रियतम !

यदि तुम चतुर चोर होने में ही अपना मान समझते हो, तो मेरे तिमिराच्छन्न अन्तस्तल को, छिपने के लिए, अपना खास सदन क्यों नहीं बना लेते ?

बाहर खड़े-खड़े मेरी अश्रुधारा से भींग क्यों रहे हो ? मेरे हृदय को क्या तुम अबभी अपना विश्रान्ति-मन्दिर नहीं मानते ?

कैसे हो सकता है कि, तुम अपने आपको नीर कहो और मैं मीन होने का दावा न करूँ ?

यह युक्ति-संगत है क्या कि, तुम तो मुझे मधुकर कहो, और मैं तुम्हें पंकज न मानूँ ?

यहभी सम्भव है क्या कि, मैं तो तुम्हें दीपक के रूप में देखूँ, और तुम मुझे पतंग न मानो ?

तुम्हें जब मैं सागर कह सकता हूँ, तब कोई कारण नहीं, कि मैं अपने-आपको तरंग न कहूँ ।

तुम विम्ब हो, तो कहो, मैं तुम्हारा प्रतिविम्ब हुआ या नहीं ?

मेरी अन्तः प्रवृत्ति को अपनी प्रेम-तन्त्री की झनकार कहने में तुम्हें क्या कुछ संकोच होता है ?

झूठ है कि, तुम चुम्बक हो। सचही चुम्बक हो, तो मेरे लौह-सदृश चित्त को अपनी ओर खींच क्यों नहीं लेते ?

जब मेरे अश्रु-विन्दुओं की तुलना तुम मुक्ताओं से कर रहे हो, तो उनकी माला पहनने में तुम्हें क्या आपत्ति है ?

मेरे हृदय को यदि तुम एक प्रस्तर-खण्ड मान बैठे हो, तो उसपर अपने स्नेह-रस का झरना क्यों नहीं झरने देते ?

यह कभी न होने दूँगा, कि तुम तो बजाते रहो वीणा, और मैं मुग्ध-मृग की भाँति तुम्हारे स्नेह-जाल में फँसने न जा पहुँचूँ।

तो फिर मेरी इस गली से तुम निकलते ही क्यों हो ? यह कैसे हो सकता है कि, इस पथ पर तुम्हारे चरण पड़ें, और मैं अपने आपको उसकी धलि न बनालूँ ?

हमें तो 'वह' यहीं मिलेगा

हमभी तो उसेही खोजने आये हैं, उसेही देखने आये हैं। ब्रह्माण्ड यह सारा उस सरजनहार की खोज में ही निरन्तर चक्कर लगा रहा है। कोई उसे किसी तरह खोजता है, तो कोई किसी तरह। कोई उसे कहीं ढूँढता है और कोई कहीं। जिसने जहाँ सच्ची लगन से उसे खोजा, वहीं उसे पाया। सभी उस लाल के लोभी हैं, और सभी जगह उस नटवर के जा छुपने के ठौर हैं। किस-किसकी खोज पर क्या-क्या कहा जाये? कहने-सुनने की ज़रूरतभी नहीं, अधिकारभी नहीं। हम तो अपनीही बात कहते हैं, वहभी अधूरी-सी ही। यही, कि हमें अपना प्यारा कृष्ण मिलेगा तो यहीं मिलेगा। कहाँ?

ग़रीबों के इसी गोकुल गाँव में। वह काला कान्ह इन्हीं किसानों की गिरी-पड़ी बीहड़ बस्ती में दिखेगा। वह मुरली-मनोहर इन्हीं मजूरों के मैले-कुचैले मोहल्लों में नज़र आयगा। अगर उस प्यारे के दीदार का खिचाव न होता, तो हम मदान्ध जन इन दीन-दरिद्रों के पैरों की धूल ललाट पर चढ़ाने यहाँ आतेही क्यों ? उस मोहन की प्यारी झलक ही तो हमें बरबस यहाँतक—ग़रीबों के इस गोकुल गाँव में—खींच लाई है, जो यहाँ की हर सूरत व हर ज़र्रे में झिलमिला रही है। तब क्यों न हम अपनेको इस तरण-तारण तीर्थ पर न्यौछावर करदें ?

कुछ ऐसी धारणा बन गई है, कि यह बीहड़ बस्तीही हमारी वाराणसी है। यह ग़रीब गाँव ही हमारा गोकुल है। उजड़े-उखड़े हुए किसानों के ये खंडहर ही हमारे मंदिर हैं, और हाँफते हुए मजूरों की ये गिरी-पड़ी झोंपड़ियाँ ही हमारी मस्जिदें हैं। जहाँभी दीन-दलितों और पीड़ितों के आँसू गिरते हों वहीं हमारे लिए अघ-नाशक तीर्थ है। फिर क्यों न हम वहाँ की शीतल रज इन जलती हुई आँखों पर मललें ?

अपने मोहन को खोजते-खोजते आज हम इस पावन पुरी में आ पहुँचे हैं। कृष्ण की बाँसुरी से अपने बेपीर अन्तर को हम यहाँ वेधने आये हैं। हम संगीत-रसज्ञ नहीं हैं। फिरभी हम उस वंशी की तान सुनेंगे, और उससे अपने रोम-रोम को वेधेंगे। इन आर्त्त-अनाश्रितों की आह और चीत्कार की ओर हमारा नीरस हृदय क्यों बरबस खिंचा जा रहा है ? कौन जाने, यही न उस विपिन-विहारी वनमाली का वेधक वंशी-निनाद हो ! कुछभी हो, पर है यह करुणा-लहरी हमारे प्यार की चीज़, हमारे प्राणों की निधि। दीन-दुर्बलों की इस दर्द-भरी धुन पर ज़रूर हम अपने गुमानी दिल को चढ़ा देंगे। इस करुण-क्रन्दन की मणि-माला को अवश्य हम अपने प्राणों के मोल खरीद लेंगे। संगीत-रसिक और कला-प्रेमी हमें क्या कहेंगे ? कोई परवा नहीं। हमारे अन्दर अभी वह कला-प्रेम नहीं जागा, कि इस नंगी चोटीली चीख से कान हटाकर कल्पना के कलित कुंजों में कूजती हुई मुरलिका को हृदय में बसालें। हमारा सुदामा-सखा कृष्ण तो कृपाकर हमें वही थोड़ी-सी रस-

पिपासा प्रदान करदे, जो करुणा में डूबते-उतराते इन ग्रार्त्त स्वरों को ग्रालिंगन देने के लिए हमारे ग्रन्तस्तल में उत्कंठा ग्रौर व्याकुलता भरदे। ग्रपनी-ग्रपनी रुचि ही तो है।

ग्रच्छा है, कि इस बस्ती में हम मत-मज़हबों के बखेड़ों से बहुत दूर हैं। वह दिमाग़ ही नहीं,—फिर धार्मिक ग्रौर दार्शनिक उलझनें सुलझाने की कोशिश करें तो कैसे ? तत्त्व-विवेचन का हमें स्वाद नसीब नहीं हुग्रा। हम तो उस मज़हब के समझनेवाले मामूली ग्रादमी हैं, जिसे एक गँवार राहगीरभी ग्रपने दर्देदिल से सुन ग्रौर समझ सकता है। द्वैत-ग्रद्वैत की बारीकियाँ हम क्या समझें ! वे हमारी समझ के बाहर की बातें हैं। हमारा ईश्वरभी हमारी ही टोली का ईश्वर है। ऊँची-ऊँची उड़ानें भरने की हममें हिम्मत नहीं। वैसा व्यायाम तो कोई गगन-विहारीही कर सकते हैं। ग्राकाश-वाटिका क्रीडा करने का स्थान नहीं। हमारे शास्त्र के सरल सूत्र तो दीन-दुर्बलों की दिनचर्या के फटे पन्नों पर बिखरे पड़े हैं। उनपर न तो कोई भाष्य है, न कोई वृत्ति। ग्रर्थ तो उन सूत्रों का बड़ा ही सरल है, पर उनका ग्रनुसरण महान् कठिन है। दरिद्रनारायण की उपासना करना सचमुच खाँडे की धार पर चलना है। दीन-दुर्बलों की पीर ग्रौर प्यार ही उस 'ग्रथातो ब्रह्म-जिज्ञासा' का ग्रर्थ ग्रक्षर-शून्य ग्रन्थों में किया गया है। किन्तु दम्भ ग्रौर ग्रहंकार के ग्रावरण ने हमारी मनोवृत्ति को ऐसा लपेट लिया है, कि लोक-सेवा की ग्राराधना न कर हम ग्रलौकिक साधनों द्वारा ईश्वर-मिलन के लिए लालायित हो रहे हैं!

हम कहाँ-कहाँ नहीं गये, कहाँ-कहाँ नहीं भटके ! पर वहाँ, कहाँ हो सकती थी प्यारे राम से भेंट ! दया की दरी में छिपा "लाल" निर्दयता ग्रौर भोगलिप्सा के उन सारे ग्रड्डों में कहाँ ढूँढ़े मिल सकता था ? इसीसे तो ग्राज हम भूलते-भटकते इस पुरी में ग्रा पहुँचे हैं। वास्तव में, यही वास्तविकता की बस्ती है। यहाँ गोपाल नंगा खेल रहा है। हाथ में बिना माखन की मोटी रोटी लिये खड़ा है। मेवा-मिश्री यहाँ कहाँ ? सूखे चने ही हमारा वह चितचोर चाव से चबा रहा है। गोविंद की बाँसुरी से यह कैसे हृदय-वेधक

स्वर निकल रहे हैं ! नंग-धड़ंग काले-कलूटों की मंडली में क्या खूब थिरक रहा है हमारा साँवला कान्ह ! यहाँ कैसा सुख है ! इस पीर में भी सुख है। यह देखो, आँसुओं की जमुना लहरा रही है, और ये करुणा की कुंजें। दीन-दलितों के गले में बाँह डाले कैसा प्रेम-विभोर हो रहा है हमारा दिलवर गोपाल। यह भी खूब लीला रची लीला-विहारी ने !

किसे ख़बर थी, कि इन अधनंगों और अधभूखों के इन भयावने खंडहरों में हमारा प्राणाधार क्रीड़ा कर रहा होगा ? कौन जानता था, कि इन गंदी गलियों में हमारा कुंज-विहारी विश्व-विमोहिनी वंशी फूँक रहा होगा? बड़े-बड़े मंदिरों और महलों को छोड़कर हमारा राजराजेश्वर इन सड़ी झोंपड़ियों में मजूरी करने आया है ! बलिहारी ! पीड़ितों को वह कैसा पुचकार रहा है ! पतितों को वह कैसा प्यार कर रहा है। दलितों को वह कैसा दुलार रहा है ! कैसी सलोनी झाँकी है ! कैसा दिव्य दर्शन है ! इस लोक-ललाम रूप की तसवीर सभी धर्म-ग्रन्थों के पन्ने-पन्ने पर, देखो, किस खूबी के साथ खिची हुई है। पर इस चित्र को हममें से आज कितने पूजते हैं ? वे आँखें ही नहीं, वह दिल ही नहीं।

हमें तो यही रूप रुचिकर प्रतीत हुआ है। हमारे हिये में तो यही सूरत बस रही है। हमें अपना गोपाल इस गोकुल में ऐसाही नज़र आया है। इसी छवि पर हम दीवाने हो रहे हैं। मोहन की वेधक बाँसुरी बज रही है और निरंतर बज रही है। क्या पागल बना देनेवाली ध्वनि नहीं है यह ? हमारे रोम-रोम को जो गीत वेध रहा है, वहभी निराला ही है। अहा ! कैसा मधुरसंगीत है ! प्राणों में कैसी छटपटाहट भर रहा है ! उसके गीत में एक संकेत है, एक आदेश है—तनिक सुनो तो उसे—

"दीन-दरिद्रों में मुझे खोजो,—मैं तुमसे दौड़कर मिलूंगा।
दलितों-दुखियों को गले लगाओ,—मैं तुम्हें स्नेहालिंगन दूँगा।
पीड़ितों-पतितों को प्यार करो,—मैं तुम्हें प्रेम-रस पिलाऊँगा।
आर्त्त-अनाथों की आह पर अपना अन्तर चढ़ादो,—मैं तुम्हें मीठी-मीठी बाँसुरी सुनाऊँगा।"

मधु-संचय

हाँ, आज मैं अभीसे अपना-हृदय-पात्र-लेकर मधु-मंचय करने निकला हूँ। पात्र के भाग्य से, देखूँ, कितना मधु मिलता है।

सर्वप्रथम उषा के सौरभित समीर की लोल हिलोरों के साथ केलि-निरत कलियों का मधु संचित करूँगा।

फिर, मकरन्द-मत्त मधुप-मण्डप से मिलकर मुस्कराते गुलाबों की चितवन से थोड़ा-सा मधु माँगकर अपने पात्र में रख लूँगा।

किसी अधजगे शिशु के अधखुले नेत्रों से, और उसके कलित कपोलों पर थिरकती मन्द मुसकान से भी इस पात्र में कुछ मधु उँड़ेलूँगा।

किसी विप्रलब्धा की अन्तर्वीणा पर विषाद की हँसी हँसती हुई स्वर-लहरियों में व्याप्त मधु को भी मैं न छोड़ूँगा।

और, किन्हीं दो वियुक्त प्रेमियों के आकस्मिक मिलन की मंजुल मंजरी से भी लेकर अपने पात्र में थोड़ा-सा मधु डाल लूँगा।

अवाध गति से तैरती हुई किसी अनासक्त कर्मयोगी की जीवन-तरी में संचित यदि कुछ मधु मिल गया, तो वहाँभी मैं अपना हृत्पात्र लेकर जा पहुँचूँगा।

अन्त में, किसी स्थितप्रज्ञ महापुरुष के ध्यान-सरोवर में विकसित परानन्द-पद्म से यथेष्ट मधु लेकर मैं अपनी यह मधुकरी-यात्रा पूर्ण करूँगा।

मेरे ये निर्झर

हाँ, मैंने इन्हीं झरनों के पास बैठकर अपने अंतर के पंख पखारे हैं, और इन्हींके सुधा-सीकरों से अनेक बार हृदय की प्यासभी बुझाई है। यही कारण है कि इन्हें मैं तीर्थ-निर्झर मानता हूँ।

स्मरण नहीं, मेरा यह अन्तराकाश, कभी किसी युग में, सुनील और स्वच्छ रहा होगा या नहीं। मैंने तो इसे सदा मेघाच्छन्न ही देखा। न जाने, कबसे इसपर काली-काली घटाएँ घुमड़-घुमड़कर घनीभूत होती आ रही हैं। धूमिल स्मृतियाँ, बिनाही किसी क्रम के, मेरे नभोमण्डल के साथ, याद नहीं कब से, आँखमिचौनी खेलती आ रही हैं।

उसी अज्ञात काल से यह रिमझिम-रिमझिम वर्षा आरम्भ हुई। तभी से झीनी-झीनी फुही पड़ने लगी, जो आजभी इस क्षत-विक्षत अन्तरिक्ष पर करुण-कल्लोल करती हुई मुस्करा रही है!

हाँ, वहीं कहीं से ये दोनों सोते फूटे हैं। इनका सीपाकार स्वच्छ उद्गम-स्थल देख-देखकर लोग इन्हें मोतियों की लड़ियाँ समझ बैठे। और, कुछ कल्पना-प्रिय रसज्ञों ने इन्हें नलिनी-दल-गत ओसकण मान लिया। देखो तो, मेरे इन निर्भृत निर्झरों का कैसा उपहास किया जा रहा है!

पर, मुझे इस सबसे क्या? मेरे लिए तो ये उष्ण निर्झर मेरी पंकिल कामना-कलिकाओं के पखारने के एकान्त साधन हैं। बस, इसीसे मैं अपने इन निर्झरों को तीर्थ-निर्झर कहने में असीम अनुभव करता हूँ।

भक्तों के सौभाग्य

भक्त-वत्सल ! क्या यह सच है, कि उस ग्राग्रही दैत्य-कुमार ने एक दहकते हुए लौह-स्तंभ के भीतर तुम्हारी विमल वात्सल्य-धारा बहती देखी थी ?

ग्रौर, एक हठीले बालक ने ग्रपने पीत कपोलों पर तुम्हारे कर-कमल के सुशीतल स्पर्श-लाभ का ध्रुव-पद प्राप्त किया था न ?

पतित-पावन ! तुम्हारे चरण-चिह्नों का दिव्य प्रतिविम्ब तो, बस, उस मत्स्य-जीवी कैवर्त्त के कठौते पर ही पड़ा था । क्यों न उसका वह पात्र जगद्वन्द्य माना जाये ?

तुम्हारे पाद-पद्मों की धूलि तो उस भगवती शिला ने ही पोंछी थी । तब फिर उस भक्ति-लता को पाषाणी कहने की कौन धृष्टता करेगा ?

परमसखे ! वह घड़ीभी कभी भूलने की नहीं, जब तुम्हारी प्रेमाश्रु-धारा ने तुम्हारे उस दरिद्र ग्रतिथि के धूलि-धूसरित पैर, चार चावलों के लोभ से, बारबार पखारे थे ।

हृदय-दुलारे ! उस दिन एक भाग्यवती गोप-गृहिणी ने तुम्हें ग्रपनी रस्सी से बाँधकर तुम्हारी ग्रनोखी रिस-भरी बाल-छवि देखी थी । लाल ! तुम्हारी वे ग्राँसुग्रों से डबडबाई लाल-लाल ग्राँखें, कहो, किसकी ग्राँखों में न समा जायेंगी ?

त्रिलोकेश्वर ! तुम्हारा ग्रातिथ्य तो उस दीन की कुटिया में ही केले के छिलकों से भली भाँति हुग्रा था । वृद्धा भीलनी के पश्चात् उस कुटीर-वासिनी ने ही तुम्हारी सच्ची मेहमानदारी की थी ।

उस निरक्षर जुलाहे ने ग्रपने करघे पर ताने-बाने पूर-पूरकर तुम्हारी ललित लीला का जैसा-कुछ ग्रनुभव प्राप्त किया, वैसा फिर ग्राजतक किसी-से करते नहीं बना ।

ग्रौर उस ग्रन्धे का वह एकतारा ! उसके स्वर में तो तुम सूरश्याम के नाम से ग्राजभी बड़ी मौज से गाया करते हो ।

प्यारे ! उस रात मरुप्रदेश की एक पगली ने तुम्हें ग्रपने रंग-महल में छिपाकर तुम्हारे साथ कैसी सुन्दर चौसर खेली थी ! तभी तो तुम उस बावली के 'सजन' कहे जाते हो ।

विश्व-मंदिर

परमेश्वर का यह समस्त विश्व ही महामंदिर है। इतना सारा यह पसारा उसी घट-घटव्यापी प्रभु का घर है, उसी लामकां का मकान है। पहले उस मनमोहन को अपने अन्दर के मंदिर में दिलभर देखलो, फिर दुनिया के एक-एक ज़र्रे में उस प्यारे को खोजते चलो। सर्वत्र उसी प्रभु का सुन्दर

मंदिर मिलेगा, जहाँ-तहाँ उसीका सलोना घर दिखेगा। तब अविद्या की अँधेरी रात बीत गई होगी। प्रेम के आलोक में तब हर कहीं भगवान् के मंदिर-ही-मंदिर दिखाई देंगे। यह बहस ही न रहेगी, कि उस राम का वास इस घर में है या उसमें। हमारी आँखों में लगन की सच्ची पीर होगी, तो उसका नूर हर सूरत में नज़र आयगा, कोने-कोने से साँवले गोपाल की मोहिनी बाँसुरी सुनाई देगी। हाँ, ऐसा ही होगा, बस, आखों पर से मज़हबी तअस्सुब का चशमा उतारनेभर की देर है।

यों तो ऐसा सुन्दर मंदिर कोईभी भावुक भक्त एक आनन्दमयी प्रेम-कल्पना के सहारे अपने हृदय-स्थल पर खड़ा कर सकता है, या अपने प्रेम-पूर्ण हृदय को ही विश्व-मंदिर का रूप दे सकता है। पर क्या अच्छा हो, यदि सर्वसाधारण के हितार्थ सचमुचही एक ऐसा विशाल विश्व-मंदिर खड़ा किया जाये। क्यों न कुछ सनकी सत्य-प्रेमी नौजवान इस निर्माण-कार्य में जुट जायें। इससे, निस्सन्देह, संशय,अविश्वास और अनीश्वरता का दूषित वायु-मंडल हट जायेगा और सूखे दिलों से भी फिर एक बार प्रेम-रस का स्रोत फूट पड़ेगा।

वह विश्व-मंदिर होगा कैसा ? एक अजीब-सा मकान होगा वह। देखते ही हर दर्शक की तबीयत हरी हो जायेगी। रुचि-वैचित्र्य का पूरा ख़याल रखा जायेगा। भिन्नताओं में अभिन्नता दिखाने की चेष्टा की जायेगी। नक़्शा कुछ ऐसा रहेगा, जो हरेक की आँख में बस जाये। किसी एक खास धर्म-संप्रदाय का न होकर वह मंदिर सर्व धर्म-संप्रदायों का 'समन्वय-मंदिर' होगा। वह सबके लिए होगा, सबका होगा। वहाँ बैठकर सभी सबके मनों-भावों की रक्षा कर सकेंगे, सभी सबको सत्य, प्रेम और करुणा का भाग दे सकेंगे।

चित्र उस मन्दिर में ऐसे-ऐसे भावपूर्ण अंकित किये जायेंगे, कि पाषाण-हृदय दर्शक को भी उनसे सत्य और प्रेम का कुछ-न-कुछ संदेश मिला करेगा। किसी चित्र में राज-राजेश्वर राम ग़रीब गुह को गले लगाये हुए दिखाई देंगे, तो कहीं वे भीलनी के हाथ से उसके जूठे बेर चखते मिलेंगे। कहीं सत्यवीर

हरिश्चन्द्र, रानी शैव्या से वत्स रोहिताश्व का आधा कफन दृढ़ता से माँगता होगा। कहीं त्रिलोकेश्वर कृष्ण एक दीन दरिद्र अतिथि के धूल-भरे पैरों को अपने प्रेम-अश्रुओं से पखारते मिलेंगे, और कहीं वही योगेश्वर वासुदेव घबराए हुए पार्थ को अनासक्तियोग का संदेश दे रहे होंगे। औरभी वहाँ ऐसेही अनेक चित्र देखने को मिलेंगे। भगवान् बुद्ध एक वेश्या के हाथ से भिक्षा ग्रहण कर रहे होंगे। कहीं घिनौने कोढ़ियों के घाव धोते हुए दयालु ईसा का सुन्दर चित्र देखने को मिलेगा, और किसी चित्र में वही महात्मा संसार के पापों को अपने रक्त से धोने के लिए सूली पर चढ़ता हुआ दिखाई देगा। प्रियतमा सूली को चूमनेवाला मस्त मन्सूर भी वहीं मुस्कराता हुआ नज़र आयेगा। कहीं दर्द-दीवानी मीरा अपने प्यारे सजन का चरणोदक समझकर ज़हर का प्याला प्रेम से पी रही होगी, और किसी चित्र में निर्बल सूर की बाँह झटककर वह नटखट नंदनंदन वहीं कहीं लुका-छिपा खड़ा होगा। एक और चित्र वहाँ आप देखेंगे। खादी की लँगोटी धारण किये गांधी एक तरफ चर्खा चला रहा होगा। उसकी गोद में अछूतों के नंग-धड़ंग बच्चे खेलते होंगे, और वह अपने मोहन-मंत्र से विपक्षियों के भी हृदय में प्रेम और सत्य को जागृत कर रहा होगा। और भी कितनेही सजीव चित्र उस मंदिर में खिंचे होंगे। हिमालय, गंगा और काशी-अयोध्या के दृश्य आप देखेंगे। वहीं बौद्धों के स्तूप और विहार भी दिखाई पड़ेंगे। क़ाबे और जेरूसलेम के तीर्थभी वहीं अंकित होंगे। बड़े-बड़े ऋषियों के, मस्त औलियों के और प्रेम-पीर का मर्म बतानेवाले संतों और सूफियों के आकर्षक चित्र देखकर आप आनन्द के आकाश में उड़ने लगेंगे।

वहाँ अनेक धर्म-ग्रंथों के समन्वयसूचक 'महावाक्य' भी दीवारों पर खुदे होंगे। वेद के मंत्र, कुरान की आयतें, अवस्ता की गाथाएँ, बौद्धों के सुत्त, इंजील के सरमन, कन्फ्यूसियस के सुवचन, कबीर के सबद और सूर के भजन आप उस मंदिर की पवित्र दीवारों पर पढ़ेंगे। किसीभी धर्मवाक्य में भेद न दिखाई देगा। सबका एकही लक्ष्य, एकही मतलब होगा। सब एकही प्यारे प्रभु की तरफ इशारा कर रहे होंगे। उस विश्व-मन्दिर की दीवारों पर

खुदे हुए वे प्रेम-मंत्र संशय और भ्रम का काला पर्दा उठादेंगे, अनेकता में एकता की झलक दिखादेंगे।

वहाँ की उपासना में पूर्व-पश्चिम का झगड़ा न रहेगा। सिरजनहार किस तरफ नहीं है? यह सारी दिशाएँ उसीकी तो हैं। सारी भूमि गोपाल की ही तो है। वहाँ के एक-एक पत्थर में और एक-एक ईंट में प्यार-ही-प्यार भरा होगा। उन पत्थरों को चूमने में बेहद मज़ा आयेगा, और उन्हें दण्डवत् प्रणाम करने में भी अपार आनन्द मिलेगा। वहाँ एकसाथ प्रेम का प्रसाद बाँटा जायेगा और वहीं खुदी की कुर्बानीभी की जायेगी।

सभी बेरोक-टोक उस विश्व-मंदिर के अंदर जा सकेंगे। वहाँ 'प्रवेश-निषेध' की तख्ती न होगी। विद्वान भी वहाँ जायेंगे और मूर्खभी जायेंगे। पुण्यात्मा जिस द्वार से जायेंगे, उसी द्वार से पापात्माभी जाकर प्रार्थना में शामिल होंगे। पतित से भी पतित मानव को वहाँ प्यार की पाक जगह मिलेगी। दलित और दंडित, दीन और दुखी, पतित और पापी सभी वहीं परमपिता का दर्शन ले सकेंगे, सभी गोविंद का गुण-गान कर सकेंगे। पश्चात्ताप के आँसुओं से सुबह-शाम मंदिर का आँगन पखारा जायेगा, और प्रायश्चित्त की धूप से उसका कोना-कोना सुवासित किया जायेगा। उस महान् समन्वय-मंदिर में ही साधकजन लोक-सेवा और विश्व-प्रेम का आदेश प्राप्त कर सकेंगे। धार्मिक झगड़ों से ऊबे हुए और मज़हबी खूँरेज़ी से घबराये हुए शान्तिप्रिय साधक वहाँ बैठकर दिव्य प्रेम की साधना किया करेंगे। अपनी-अपनी दिली राह से हरकोई वहाँ अपने राम को रिझायेगा। उस मंदिर में 'मैं-तू'न होगा; 'वही-वही' होगा।

क्या ऐसा सुन्दर विश्व-मंदिर किसी दिन खड़ा किया जा सकेगा? क्यों नहीं? पागल क्या नहीं कर सकते? उनके दिल में बात उतरभर जाये, फिर ऐसा कौन-सा काम है, जिसे वे पूरा कर न सकें? वह शुभ दिन जल्द आजाये, जब इस कल्पना का विश्व-मन्दिर हमारे वृद्ध भारत की तपोभूमि पर निर्मित हो जाये और उसपर किसी धर्म-मज़हब का नहीं, बल्कि सत्य और ईमान का ऊँचा सफेद झंडा फहरा उठे।

गागर में सागर

प्रभो ! तुम्हारा नाम मानो वाङ्मय है। उस वाङ्मय में ही वेद हैं, शास्त्र हैं, उपनिषद हैं, स्मृतियाँ हैं, पुराण हैं, इतिहास है, काव्य है, व्याकरण है, ज्योतिष है और अखिल विश्व-भारती का पूर्ण विकास।

तुम्हारा नाम मानो कर्म-कण है। उस कर्म-कण में ही गुणत्रयी है, पंच-महाभूत हैं, अन्त.करण-चतुष्टय है, जीव है, काल है और अनन्त ब्रह्माण्ड।

तुम्हारा नाम मानो परात्पर रस है। उस रस में ही सत् है, चित् है, आनन्द है, निर्विकल्प समाधि है और अखण्ड ब्रह्मानुभूति।

नाथ ! तुम्हारा प्रेम मानो स्वाति-विन्दु है। उस एकही विन्दु में कूप है, कुण्ड है, तड़ाग है, नदी है, समुद्र है और समग्र जल-तत्त्व।

तुम्हारा प्रेम मानो वट-बीज है। उस एकही बीज में मूल है, धड़ है, शाखाएँ हैं, पत्तियाँ हैं, फूल हैं, फल हैं और सर्ववृक्ष।

तुम्हारा प्रेम मानो गायन है। उस एकही गायन में स्वर है, लय है, तान है, मूर्च्छना है और समस्त संगीत।

और, प्यारे ! तुम्हारा मिलन ? वह तो मानो दिव्य माधुर्य है। उस नित्यमाधुर्य में ही कैशोर्य है, लावण्य है, सौकुमार्य है, कान्ति है और संपूर्ण सौन्दर्य।

तुम्हारा वह प्रेम-मिलन मोक्षभी तो है। उस मोक्ष में ही साध्य है, उपास्य है, ज्ञेय है, ध्येय है और निरतिशय श्रेयस्।

बलिहारी ! हम-जैसे विमूढ़जनों के लिए यह अच्छा गागर में सागर भर दिया तुमने !

लीला

नट-नागर ! जिसे वे माया कहते हैं, उसे मैं तुम्हारी ललित लीला कहूँगा। जिससे वे भयभीत होते हैं, मैं उसकी स्नेहमयी गोद में बैठकर खेलूँगा।

तुम्हारी लीला को मैं 'असत्' कैसे मानलूँ ? यह कैसे हो सकता है, जगदाधार ! कि तुम 'सद्रूप' समझे जाओ, और तुम्हारी लीला को मैं 'असत्' समझूँ ?

तुम्हारी लीला को मैं 'अचित्' कैसे कहूँ ? यह कैसे मान्य हो सकता है, अखिल बोधेश्वर ! कि तुम 'चिद्रूप' कहे जाओ, और तुम्हारी लीला को मैं 'अचित्' कहूँ ?

और तुम्हारी लीला को मैं 'निरानन्द' भी कैसे कहूँ ? यह कैसे घटित हो सकता है, रस-निलय ! कि तुम 'आनन्द-रूप' कहे जाओ, और तुम्हारी लीला को मैं 'निरानन्द' कहूँ ?

तब, उसे 'अशिव' कहना भी असंगत होगा। असंभव है, कि तुम तो माने जाओ 'शिव', और तुम्हारी लीला को मान बैठूँ मैं 'अशिव' !

लोक-ललाम ! तुम्हारी ललित लीला को मैं अनुक्षण रमणीयता से अनुरंजित देखता हूँ। यह कैसे प्रामाण्य हो सकता है कि, तुम लावण्य-निधि हो, और तुम्हारी लीला लावण्यमयी न हो ?

हृदय-रमण ! तुम्हारी लीला के अन्तर तो सदा-सर्वथा सुख-ही-सुख है। दुःख तो मायावाद और शून्यवाद की स्थायी सम्पत्ति है। लीलावादियों के कोश में उसे कहाँ कोई स्थान मिला है ?

लीलामय ! मुझे तो सृष्टि का आदि, मध्य और अवसान तुम्हारी अलक्ष्य लीला में ही आज प्रत्यक्ष हो रहा है। इसीसे, नट-नागर ! तुम्हारी लीला के रस-प्रांगण में खेलने के लिए मैं अनुक्षण अधीर रहता हूँ।

प्रार्थना-विन्दु

: १ :

हाँ, वही आग मेरे प्राणों के प्राण ! वही आग—

मेरे अन्तस्तल में अपने अमंद अनुराग की धधकती हुई अँगीठी रखदे न।

जलादे, नाथ, उसमें मेरी सारी ही गीली वासनाएँ;

भस्म करदे, प्रभो, उसमें मेरी असीम अहन्ता;

भूनडाल उसमें मेरे समस्त कर्म-अकर्म।

मेरा अंतर अब अंगार की तरह दहकनेदे, वहाँ लगन की लपटें उठनेदे।

खाक हो जानेदे, नाथ, मेरी मदिरामयी ममता उस अनुराग-आग में।

अपने परमप्रेम का दीपक जलादे, ज्योतिर्मय !

वह दीप-प्रकाश भरदे, लीलामय, मेरे अँधेरे मानस-कुटीर में।

और, उस लौ से लिपट लेनेदे एक बार मेरे प्राण-पतंगे को, प्राणेश !

आजही साँझ को मेरी यह अधीरता-भरी साध पूरी करदे, मेरे जीवितेश्वर !

: २ :

क्या अच्छा हो कि वे मेरे गर्वोन्नत मस्तक को अपने पैरों से रोंदा करें, और मैं अपनी राम-मढ़ैया में उन सबका स्वागत-सत्कार किया करूँ।

वे मुझे काँटों से छेदते रहें, और मैं उनके ऊपर फूल बरसाया करूँ।

कब सफल करोगे, नाथ, मेरी यह लालसा ?

क्या अच्छा हो कि वे मुझे मन से उतारकर सदाको भुलादें, और मैं उन सबको प्रेम से याद किया करूँ।

वे मुझे घृणा से देखें, और मैं उन सबको पलकों पर बिठाये रहूँ।

कब पूरी करोगे, प्रभो ! मेरी यह अधीर अभिलाषा ?

: ३ :

उन लोगों को पता-ठिकाना और क्या बताऊँ !
पता-ठिकाना तो तू ही है मेरा।
तेरे नाम से जानले, जिसे जानना हो मुझे।
मगर मुशकिल तो यह है, कि तू खुदही लापता है।
तुझे अलग करके कोई मेरा पता न पूछे।
तुझसे रहित "मैं" तो अब भुलाही दिया जाऊँ।
"मैं" और "मेरा" यदि तेरा नहीं हो गया, तो फिर मेरे पते-ठिकाने से लाभ ही क्या ?
और नहीं तो कम-से-कम तेरे नाम पर संसार में निरीश्वरता का यह कोने-कोने में प्रचार तो न होगा, प्रभो !

: ४ :

प्रभो ! इतनी ही श्रवण-शक्ति दे,—
जिससे कि हृदय को हिला देनेवाली आहें और करुण-क्रन्दनही मैं सुन सकूँ।
आमोद-प्रमोद का कलरव, उत्सव का कोलाहल और गान-वाद्य का स्वर-ताल इन कानों से न सुनाई दे, तोही अच्छा।
दयानिधे ! मुझे वधिर बनादे, पर निर्दय नहीं।
इतनी ही दर्शन-शक्ति दे मुझे,
जिससे लड़खड़ाते भूखे-प्यासे दीन-दुखियों को देख चार आँसू तो बहा सकूँ।
विलास-लीला और प्रमत्त केलि-क्रीड़ा इन आँखो से न दिखाई दे, तो ही अच्छा।
दयानिधे ! मुझे तू अंधा बनादे, पर निर्दय नहीं।

: ५ :

जीवनभर क्या इसी तरह छकाते रहोगे, जीवन-धन ? कबसे खोज रहा

हूँ तुम्हें ? अब तो आ मिलो, मेरे हृदय-चन्द्र !
एकही बार सही, अपनी प्यारी-प्यारी झलक तो दिखादो, मेरे प्रेम-निधे !
जीवन-घट का कुछ जल तो छलककर गिर गया और कुछ चू गया।
दो-ही-चार बूँदें बची हैं अब इसमें।
अबभी आ जाओ,
दो-चार ही बूँदें सही, तुम्हारे श्रीचरणों पर तो चढ़ा दूँगा।
दीपकभी अब यह बुझानेवाला है;
तेल इसमें रहा ही कहाँ है।
अब तो बत्ती-ही-बत्ती जल रही है, सो यह कबतक जलेगी ?
अबभी अपनी झलक दिखादो, प्यारे !
आरती तो क्या उतारूँगा, इस बुझती लौ के आलोक में तुम्हारी एक झलकभर देख लूँगा।
इतनी साध तो पूरी करही दो कृपाकर, करुणा-निधे !

: ६ :

यह खूब रहस्य खोला !
रंग-रंग की कैसी-कैसी सुन्दर प्यालियाँ रखी हैं—
कोई पुरानी प्याली है, कोई नई,
कोई बड़ी है, कोई छोटी,
कोई कंचन की है, कोई मिट्टी की।
पर है सबमें एक ही अमृत-रस।
इन सब प्यालियों में तूने एकही प्रेम-सुधा भर रखी है। बलिहारी !!
व्यर्थ ही लड़ मरते हैं वे सारे मतवाले मज़हबी !
प्यालियों के ऊपरी रूप-रंग पर ही उन धर्मरसिकों की आँखें अटकी हुई हैं।
इनके अंदर का छलकता हुआ अनुराग-मधु उन्होंने अभी देखाही कहाँ ?
उन मंडराते लोभी मधुपों ने अभीतक एकभी प्याली से होंठ नहीं

लगाया।

एकबारभी उन भेदवादियों को इस रस का चसका लग जाये, तो उन्हें भी सारी नई-पुरानी प्यालियाँ एकही मधु-रस से भरी नज़र आने लगें। क्या अच्छा हो, उस दिन हर प्यासे पथिक के मुँह में हर प्यारी प्याली अनूठा मधु-रस उँड़ेलने लग जाये।

हम सभीके आगे खोलकर रखदे न अपना वह रस-रहस्य, मेरे स्वामी !

: ७ :

मेरे आनन्द की आज सीमा नहीं।

नाथ ! तूने यह अच्छा अनुसंधान अनायास करा दिया !

समय रहते इस महान् सत्य का पता तो लग गया।

धन्य है आज मेरा भाग्य, विभो !

यह कैसा अच्छा है, कैसा भला है !

वह भी कैसा अच्छा है !

ये तो सभी अच्छे हैं।

हाँ, प्रभो, मुझसे सभी अच्छे हैं।

शायद मैंही सबसे बुरा हूँ।

योग्य ही है, जो नित्य मेरी निंदा हुआ करती है; और नहीं तो, इससे मेरे मन का कुछ मैल तो कट जाता है।

इतना तो मैं स्वयंही स्वीकार करता हूँ, कि मेरा अहंकार-मद हिमाद्रि-शृंग से भी उत्तुंग है;

क्रोध मेरा प्रचंड दावानल से भी अधिक दाहक है;

मोह मेरा महोदधि से भी अधिक अगाध और अपार है,

काम मेरा हालाहल से भी अधिक उन्मादक, उत्तेजक और मारक है।

न जाने, कबसे अग्नि-लता को आलिंगन दिये बेहोश पड़ा हूँ।

देखता हूँ कि मेरे संक्रामक कुकृत्य-कीटाणु समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त हो रहे हैं।

मेरी आत्म-दुर्बलताओं का अंत नहीं, नाथ !

न्याय तो यही है, कि लोग मुझे घृणा की ही दृष्टि से देखें।

मेरी निंदात्मक आलोचना, इस तरह, मुझे कभी-कभी तेरी याद तो कराती रहेगी।

अन्तर के दर्पण में मैं सदा अपनी दुर्बलताओं का ही प्रतिविम्ब देखा करूँ, नाथ!

अन्ततक यही विश्वास बना रहे, कि मुझसे तो सभी अच्छे हैं।

: ८ :

प्रभो! तबसे तेरे दरबार में ही तो हाज़िर होने की मैं यह तैयारी कर रहा हूँ।

अब कहीं याद आया, कि एक-एक बूँद करके मेरे इस कच्चे घड़े से कितना रस चू गया!

तेरे उस संकेत-रहस्य को अबतक समझा ही कहाँ था मैंने?

अब, आज, साँझ की इन खिसकती घड़ियों में जीवनभर का लेखा जोखा मिलाने बैठा हूँ!

सर्वज्ञ! तुझसे क्या छिपा है?

अपराध क्षमा हो, तेरा दिया हुआ वह नक़शा न जाने मुझसे कहाँ खो गया, जिसे देख-देखकर मुझे अपनी प्राण-भूमि पर तेरे निवासयोग्य एक भवन खड़ा करना था।

हाय! क्या तो बना रहा था, और क्या बना डाला!

अब कल अपने दया-दरबार में कोई जवाब न माँगना मुझसे, मेरे सिरजनहार!

अब तो तेरे चरणों पर पश्चात्ताप की ही भेंट चढ़ाकर इस प्रमादपूर्ण जीवन का प्रायश्चित्त करूँगा।

नाथ! तेरे दरबार में हाज़िर होने की मेरी यह कुछ ऐसी ही तैयारी हो रही है।

: ९

करें, कौन रोकता है उन्हें?

जितना कुछ जुल्म करना हो करें;
पर, प्रभो ! तेरे नाम पर न करें, बस, इतनाही चाहता हूँ।
तो मानो कुछ देखताही नहीं।
ये सब मिथ्याचार आज तेरेही नाम पर तो चल रहे हैं, परमात्मन् !
तेरे नाम पर एक अजा-वध करता है तो दूसरा गो-वध।
तेरे नाम पर एक दीन-दुर्बलों को पीस रहा है, तो दूसरा छूत-अछूत का अनाचार फैला रहा है।
सिरजनहार ! तेरेही नाम पर ईंट-पत्थर के मंदिरों और मसजिदों की रक्षा के बहाने नर-रक्त के पनाले बहाये गये हैं !
सो, अब इन मत-मज़हबों से पिंड छुड़ाकर मुझे वहाँ ले चल, मेरे जीवन-धन !
जहाँ कम-से-कम तेरे पवित्र नाम पर तो अत्याचार न होते हों;
जहाँ न कोई मत हो, न कोई मज़हब,
न मंदिर हो, न मठ; न मसजिद हो न गिरजा,
न छूत हो, न अछूत,
न ऊँच हो, न नीच।
ऐसी तो तेरी वह प्रेमनगरी ही है––
सो, अब मुझे वहीं लेचल, मेरी जीवन-नौका के कर्णधार ! जिससे रक्त के आँसू अब और अधिक न ढालने पड़ें।

: १० :

प्रभो ! वेभी तो तेरे प्यारे पुत्र हैं; हाँ, वे भूले-भटके राहगीर।
उन्हें अपना प्रकाश दिखादे, उन हिये के अन्धों को राह बतादे आज।
उनपरभी दया कर, दयासागर !
वे आज खुदी को गले से लगाये बेहोश पड़े हैं।
उनके अशांत अहंकार ने उन्हें ज़ालिम बनाकर छोड़ दिया है।
उनका अन्तर दया से खाली हो गया है।
सो, मेरे दाता ! उन हृदयहीनों को तू आज थोड़ा-सा दया-दान देदे।

देख, दीन-दुर्बलों की घिसी-पिसी पसलियों को कुचलते हुए वे अल्हड़ जवानी की मस्ती में इठलाते चले जा रहे हैं।

अन्धे-लँगड़े, भूखे-प्यासे, दीन-दुर्बलों के रोने पर वे लापरवाही से खिल-खिलाकर हँस पड़ते हैं!

उन चीखते-कराहते कंगालों की छाती पर कूद-कूदकर वे झूमते और राग-रागिनियाँ अलापा करते हैं!

निर्दय वे अवश्य हैं और अनजान में अत्याचार करते-करते अनीश्वर-वादी भी हो गये हैं।

तभी तो तुझे, हे परमपिता! उनपर दया दरसानी होगी, उनकी आँखें खोलनी होंगी, उन्हें राह सुझानी होगी।

प्रभो! दया कर, अपने उन उद्धत पुत्रों पर दया कर।

: ११ :

अब यही एक टूटा-फूटा खँडहर रह गया है—

यही अब मंदिर है, यही अब मठ है।

इसीमें बैठकर तुझे याद कर लिया करता हूँ।

यहाँ पर कभी मेरी ऊँची-ऊँची अभिलाषाओं का एक भव्य भवन खड़ा देखा था।

यह उसी सुन्दर मंदिर का भग्नावशेष है।

नाथ! इसे अब मैंने तेरा उपासना-स्थल बना लिया है। आ, बैठजा, मेरे इस फटे-कटे कंबल पर बैठजा।

ऊँचे-ऊँचे भव्य भवनों को तू पसंदभी तो नहीं किया करता।

है भी तो तू दीनों का उपास्य, दुर्बलों का आराध्य और दरिद्रों का देवता।

इस सूने खँडहर में, भगवन्! मैं तुझे किस भाँति रिझाऊँ, कुछ समझ में नहीं आता।

न वीणा है, न मृदंग;

न स्वर है, न ताल;

न यहाँ धूप है, न आरती।
करुणालय ! कुछ है, तो केवल कर्णकटु करुण-क्रन्दन है।
कुछ तो ये वेदनाभरी आहें हैं, और थोड़े-से ये गरम-गरम अश्रु-कण।

: १२ :

अब और क्या माँगूँ!
प्रभो ! तूने मेरे जीवन के खाली प्याले में आज वह रस उँड़ेल दिया, जिसे पीकर मैं अनंत मधुमय नभोमंडल में उड़ रहा हूँ।
खूब दिया, स्वामी ! खूब दिया !
मेरा सर्वस्व मुझे आज मिल गया।
तेरा अनमोल उपहार मैंने अपनी हृदय-मंजूषा में रख लिया है; आजीवन अब वह वहीं बन्द रहेगा।
मेरी इन पुतलियों पर तो उसका मात्र यह छाया-चित्र है।
इस चित्र को ही देखकर लोग तेरी कृपा का अंदाज़ा लगा सकते हैं।

: १३ :

और अब क्या सुनाऊँ! जो सुनाना था सुना दिया। संतोष है, तूने मेरी नीरस प्रार्थनाएँ सुनलीं और उनपर ध्यानभी दिया।
देखता हूँ, तेरी करुण-छाया मेरी परितृप्त आत्मा पर पड़ रही है;
देखता हूँ, तेरा वात्सल्य हृदयहीनता को अपनी छाँह तले बुला रहा है;
तेरा संकेत मेरी जीर्ण तरणी को तेरी ओर खेये जा रहा है।
नाथ ! इस रथ को अपने देश के पथ पर खूब घुमाया ! न जाने, ये अल्हड़ अश्व इसे आज कहाँ से कहाँ ले जाते !
खूब घुलती जा रही है, मैं देखता हूँ, मेरी मोहमयी ममता तेरे प्रेम-रस के प्याले में !
अब रात और दिन की घड़ियों को तेरी ही याद के गहरे रंग में रँगूँगा, इसका आज तूने मुझे विश्वास करा दिया।
प्रभो ! जबतक मेरे प्राण-पक्षी इस पींजड़े में बंद हैं, ये तेरेही मधुर नाम की रट लगाते रहेंगे, इसकाभी अब विश्वास हो गया।

प्रकाश तेरा वहाँ भी फैले

देवाधिदेव! सुना था कि तू उस स्वर्ण-शिखरोंवाले रत्न-मन्दिर में निवास करता है।

सत्य है यह क्या ?

क्योंकि आधिपत्य तो हमने उस मन्दिर पर किन्हीं दूसरों का ही देखा

है, देव !

उनका, जो जन्म से ही अपने-आपको सर्वोच्च और परमपावन मानते हैं।

पावन, तुझसे भी अधिक !

तू जब अपवित्र हो जाता है न, वेही तो तुझे तब दूध, दधि और मधु से नहला-नहलाकर पवित्र किया करते हैं !

हाँ, आधिपत्य उनकाही,——

जो बड़े-बड़े ताले डालकर रात्रि में तुझे मन्दिर के अन्दर बन्दी बना देते हैं, और उनके दण्डधारी प्रहरी तेरे महाद्वार पर घूमते रहते हैं।

तो क्या स्वर्ण-सिंहासन की, और अपने रत्न-जटित आभूषणों की रखवाली तू स्वयं नहीं कर सकता ?

उन अधिपतियों ने कल उस मन्दिर में तेरे इन भक्तों को भी पैर रखने नहीं दिया;

तेरे इन दर्शनार्थियों को, जो अपने आँसुओं से भिगो-भिगोकर तेरे चरणों पर दो-दो फूल चढ़ाने वहाँ पहुँचे थे।

क्योंकि इनकी परछाईं पड़ने से तेरे अपवित्र हो जाने का डर था उन्हें !

तेरे भक्तों की पंक्ति में इन प्यासे दर्शनार्थियों को नहीं बैठाया गया—

क्योंकि अपने 'भक्ति-मापक' पारदर्शी यंत्र से इनके अन्तर को उन्होंने दूर से ही देख-परख लिया था !

तो उस स्वर्ण-शिखरोंवाले मन्दिर में देव ! क्या सचमुच तू निवास करता है ?

× × ×

तुझे आज तेरे ये तिरस्कृत भक्तजन उस काले कारागृह से छुड़ा लाये हैं, भले ही अब उनका आधिपत्य बना रहे उसके रत्नस्तम्भों और शिखरों पर, उस स्वर्ण-सिंहासन पर और उन बहुमूल्य आभूषणों पर।

प्रभो ! बिखेरदे इस मंगल वेला में अपने प्रकाश की सुनहरी किरणें उनकीभी धुँधली दृष्टि पर, कि वे तेरे स्वर्गीय राज्य की अपूर्व प्रभा को और असीम शोभा को देख सकें।

२

सुना है कि अज्ञात काल से एकछत्र स्वामित्व तो, प्रभो ! समस्त भूमि पर एक तेराही रहा है ।

क्योंकि जन-जन को उसी क्षण तूने भूमि का एक-एक कण वितरित कर दिया था, यह कहकर कि,

"धरती यह तुम्हारी माता है, और तुम सब भाई-भाई हो ।

अपने माथे के पवित्र जल से इसके चरणों को तुम लोग धोते-पखारते रहना, और उनपर श्रम के परिजात-पुष्प भी चढ़ाते रहना ।

भूमाता तब सदा ही तुम्हारे रोम-रोम पर सुख-संपदा और स्वरस बर-

साती रहेगी।"

वरदान लेकर हँसते-खेलते वे खेतों-खलिहानों पर पहुँचे, और भूमाता की सेवा-साधना में जुट गये।

सुनहरी क्यारियाँ मंद-मंद मुस्कराईं, और सम्पदा खिल उठी।

फिर हमने सुना कि कालान्तर में उन भूमि-पुत्रों में से कुछ ने अपने हाथों से पारिजात-पुष्पों का चुनना छोड़ दिया। दूसरों की डलियों में से फूल ले-लेकर माँ के चरणों पर वे अब दूर से फेंकने लगे।

पहले तो फूलों को खरीदा, फिर चुराया, और छीना-झपटाभी की।

और फिर तो भूमि-पुत्रों के पुष्पों को लौह-पैरों से रोंदा भी गया।

फिर एक दिन ऐसा हुआ कि वे सब-के-सब स्वामी बन बैठे अपनी माँ के!!

तब, तेरा आसन डोल उठा, प्रभो! और तूने अपना कठोर-कोमल आदेश-संदेश पृथिवी पर उतारा।

उनकी पलकों पर से मोटा काला आवरण हटा। काँप गये वे अपनीही डरावनी परछाई देख-देखकर।

और जो उनका अपना भाग नहीं था, उसे अब, स्वेच्छा से, लौटा रहे थे वे।

देखा कि जो ढेर-के-ढेर रंग-बिरंगे पत्थर और धातु और कागज़ के टुकड़े तलघरों के अन्दर लोहे की पेटियों में उन्होंने भर रखे थे, वह सारा ही धोखा था।

भू-पुत्रों का तप जगमगा उठा। माथे से बहते हुए जल से उन सबोंने माँ के धूल-भरे पैरों को धोया, और उनपर लहलहे पारिजात-पुष्पों को चढ़ाया।

तेरे प्रकाश-दान से ही यह मंगल-जागरण धरती के एक कोने पर उतरा।

प्रभो! सभी ओर से सर्वत्र बिखेरदे न आज अपना वही आलोक कि आँखों पर से इन काले-काले आवरणों को हटाकर हम तेरे स्वर्गीय राज्य का अनन्त सौंदर्य देख सकें।

३

ज्योतिर्मय ! जगमगादे अपने दिव्य आलोक से तू उस सारेही काले अँधेरे स्थल को, जहाँ नित्य प्रवचन और संगायन तो सुनते हैं यह कि,—

'विद्वान् विनयी ब्राह्मण और चाण्डाल को, गाय, हाथी और कुत्ते को तू एकही दृष्टि से देख ।'

'एक का ही दर्शन अनेकों में कर।'

और, जहाँ कि ऊँची-ऊँची चट्टानों पर प्रतिध्वनियाँ तो सदा गूँजा करती हैं यह कि,—

'चर-अचर यह समस्त जगत् ईश्वर से बसा हुआ है।'

'अनेकपना यहाँ कुछभी नहीं।'

'जो मैं हूँ, वही तू है।'

पर जहाँ अखण्ड मानवता को खण्ड-खण्ड कर डाला गया है ; करोड़ों को निर्लज्जतापूर्वक जहाँ पीछे धकेल दिया गया है।

प्रकृति के मुक्त वरदानोंतक से वञ्चित हैं वे आज--

भूमि से, स्वच्छ वायु से, और निर्मल जल से भी !

सब कुछ जहाँ 'वर्जित' ही उनके लिए देखा गया।

जहाँ अद्वैत आज काँप रहा है, और संत्रस्त साम्य सिर नहीं उठा पा रहा।

ज्योतिर्मय ! तो जगमगादे अपने दिव्य आलोक से तू उस काले अँधेरे स्थल को।

४

तेरे इन प्रिय पुत्रों को, अपनेही सहोदरों को वे उन कुओं पर चढ़ने भी नहीं देते,—

जिन्हें कि तेरी करुणा के सहस्र-सहस्र स्रोतों ने रस-संपदा से भर दिया है।

कहते हैं—'अपवित्र हो जायेंगे वे इनके घड़े छू जाने से।'

तूने भरपूर प्रीति बरसाई और कृतज्ञ सरोवर फूले नहीं समाये।

पर तेरे इन पुत्रों को वे वहाँभी, उन सरोवरों के घाटों पर भी, उतरने नहीं दे रहे।

कहते हैं—'अपावन हो जायेंगे वे इनके स्पर्श से।'

सो, तेरे मुक्त वरदानों को क़ैद में डाल दिया है उन्होंने आज।

तेरी पवित्रता को नहीं, वे तो अपनीही पवित्रता को ऊँची मानते हैं।

और, तेरी इच्छा को नहीं, वे तो अपनीही इच्छा पूरी करना चाहते हैं।

पिता ! फैलादे उनकी अँधेरी आँखों पर अपना दिव्य प्रकाश कि वे तेरे स्वर्गीय राज्य की असीम शोभा को देख सकें।

५

भरे घड़े छलकाते वे ग्राज प्रातः ही उस पनघट पर से ग्रा रहे हैं।
उनका ग्रन्तर्घटभी छलकता ग्रा रहा है।
ग्रौर इनकी ग्रधमुँदी ग्राँखों को भी भिगोते ग्रा रहे हैं वे,—
जिन्होंने कि उस पनघट पर कभी उनकी परछाईं भी नहीं पड़ने दी थी।
इनका विश्वास था कि—
उन ग्रपवित्रों के घड़ों के स्पर्श से कूप के सारे स्रोत वहीं-के-वहीं सूख जायेंगे।
इन्होंने क्योंकि ग्रपने हाथों ग्रपने ग्रन्तःस्रोत सुखा डाले थे।
पर, प्रभो ! तेरी ग्रकृपण करुणा से न रहा गया;
इनकी जलती ग्रन्तर्धरा पर वह घनघोर बरस पड़ी।
क्योंकि तू उनके रीते घड़ों को छलकते देखना चाहता था
उस वर्जित पनघट पर।
नीर से भरे उनके वेही रीते घड़े छलकते ग्रा रहे हैं।
ग्रौर इनके भी सूखे ग्रन्तर से रस झर रहा है।
धरती के कण-कण परतेरा प्रकाश मुस्करा उठा है।

: ६ :

झरोखे, और द्वार और महाद्वार वे सभी खुल गये आज।

सब ओर द्वार-ही-द्वार !

पत्थर की दीवारें वे ऊँची-ऊँची क्या हुईं !

देवता को ओझल करनेवाले वे बड़े-बड़े खम्भे, और वे वज्र-कपाट कहाँ चले गये ?

जिन अनचढ़े फूलों की पंखड़ियाँ सूख-सूखकर झड़ गई थीं,

उन्हींसे मन्दिर का अधर शिखर अलंकृत हो उठा है आज !

और जिस क्षुद्रपात्र को उन क्रुद्ध पुजारियों ने घृणा से ठुकरा दिया था,'

उसीके मटमैले खारे जल से देवता का महाभिषेक हो रहा है आज !

उन तिरस्कृत दर्शनार्थियों के घनघोर जय-जयकार से मन्दिर के घण्टे और वाद्य बज उठे हैं।

देवाधिदेव ! कल की अँधेरी रात्रि को क्योंकि तेरे प्रकाश ने ढँक लिया था,—

और तब, तेरे करुण कोमल स्पर्श ने निष्ठुर पुजारियों का अन्तर्द्वार खोल दिया।

तो यह मन्दिर-प्रवेश हुआ या कि हृदय-प्रवेश ?

मोद घुमड़-घुमड़कर बरस रहा है, और मंगल उमड़ रहा है मन्दिर के अधर शिखर पर और उसके स्वर्ण-कलशों पर।

: ७ :

मंगल-महोत्सव है महाविजय का आज !

अभेद्य तमस् के रोम-रोम को वेध डाला है आज तेरी किरणों ने, ओ अनन्त प्रकाशमय !

ज्योतिःस्वरूप ! ले, हमारे भीगे-भीगे फूलों की इन पंखड़ियों को ग्रहण कर।

अहा ! मित्र के चक्षुओं से हम आज क्या-क्या देख रहे हैं—

काली-काली भयावनी दीवारें वे ढह गईं।

'प्रवेश-निषेध' की तख्तियाँ कहाँ हैं वे ?

अन्तरायों का पता नहीं; पराया कोई दीखता नहीं।

यह ढेर पड़ा है द्वैत और द्वेष की काली-काली राख का।

और हिम-शिलाएँ ये गल-गलकर अर्घ्य दे रही हैं तेरे प्रेम की अखंड ज्योति को।

न आज तमस् रहा, न असत् रहा, और न मृत्यु।

अन्तर्कण

: १ :

धर्म या मज़हब तो तेरे विरह की तड़प को, शराब की तरह, थोड़े क्षणों के लिए भुलाभर देगा।

: २ :

खुदी के नशे में चूर वे कूपमंडूक पंडित, और वे कठमुल्ले राहेखुदा क्या खाक दिखायेंगे ! तेरा गोकुल गाँव का तो वह पेंडा ही न्यारा है।

: ३ :

और सारा नज़ारा तो अबभी उस धर्म-नगरी में दीखता है, पर मेरे स्वामी ! एक तूही लापता है वहाँ। बारात तो है, पर दूलह नहीं। उस सुन्दर उद्यान में आजभी फूलों की कमी नहीं, पर करें क्या ऐसी रंग-बरंगी फुलवारी को लेकर, जिसमें तेरी लगन की न तो भीनी-भीनी महक हो, न तेरे प्रेम का प्यारा-प्यारा पराग ?

: ४ :

तब तो धर्म का अर्थ सत्य नहीं, स्वार्थ है। मज़हब काम तलब ईमान नहीं, बल्कि मतलब है। मतलब सधा तो सब सध गया। धर्म एक रहस्य है, एक बड़ी आड़ है, एक मोटा पर्दा है। वहाँ बैठकर चाहे जो किया जा सकता है।

: ५ :

आस्तिक तो वहाँ सभी हैं। पर सत्य पर विश्वास किसी एक का भी नहीं। उस नगरी में नास्तिक एकभी नहीं, पर अपने कर्मों से सर्वव्यापी-तत्त्व का उपहास करनेवाले वहाँ लाखों ही हैं।

: ६ :

वे, जो हृदय से शपथपूर्वक तेरे साथ संबंध-विच्छेद कर चुके, आज तेरी रक्षा का भार अपने कंधों पर उठाये हुए हैं! धर्म का यह नंगा मखौल नहीं तो फिर क्या है?

: ७ :

वहाँ से तो यह वीरान मैदानही अच्छा है। यहाँ न वेद का संदेश सुन पड़ता है, न कुरान का पैगाम, न इंजील का। यहाँ न मठ है, न मंदिर; न मसजिद है, न गिरजा। न कोई संघ है, न कोई मिशन। न कोई मत है, न कोई मज़हब। खुला आकाश है। खुली हवा है। कोसोंतक प्रेमियों के दिल का रक़बा फैला हुआ है। तेरी मेहर के बारहमासी झरने झर रहे हैं। यहीं तू हँसता-खेलता मिलेगा। यहीं तेरे अगम प्रेम का राज़ भी खुलेगा।

: ८ :

कैसे तेरे मंदिर में जाऊँ? कैसे तेरे सन्मुख झूठे अभिमान का भागी बनूँ? अपनेको औरों से उच्चतर मानते हुए मन में अथाह अभिमान तो प्रकट होगाही। यों कि, मैं महान् और पवित्र हूँ, तभी तो तेरी सेवा में उपस्थित होने का जन्म-सिद्ध अधिकार मुझे हासिल हुआ है। यों कि, उन अछूतों से तो मैं हज़ारगुना अच्छा हूँ, जो मंदिर के अंदर सिर भी नहीं रख सकते। ऐसी क्षुद्र भेद-भावना तो मन में आयेगी ही। तू इस झूठी ऊँचाई को क्या कभी पसंद करेगा? एक बच्चा तो तेरी प्यार-भरी गोद में आकर बैठ जाये,

ग्रौर दूसरा दूर से ही तुझे छूने को तरसा करे ! किसीभी पिता को क्या ऐसा विषमता का व्यवहार सुहायेगा ?

: ९ :

तेरी सदा एकसरीखी कृपा-दृष्टि बनी रहे, इसीलिए मैंने द्विजाति-ग्रधिकृत मंदिरों से ग्रसहकार कर रखा है। जो प्रभु-पूजा का स्थान मेरे उन उपेक्षित बन्धुग्रों के लिए नियत है, वही मेरे लिए भी है। जहाँ वे हैं, वहीं मैं भी हूँ। मैं उनसे बड़ा नहीं, उनसे ऊँचा नहीं।

: १० :

तू किसी विशेष धर्म-संप्रदाय या किसी खास जाति की ही जायदाद नहीं है। हर कोई तेरा है, ग्रौर तू हर किसीका है। मत-मज़हब के बखेड़ों से तू सदा दूर रहा है। मज़हब का कच्चा बाँध तेरी प्रेम-धारा के प्रवाह को ग्राजतक रोक नहीं सका।

: ११ :

देव-मंदिर की फाटकबंदी करना भी क्या कोई धर्माज्ञा है ? तेरे सामने कौन तो बड़ा, ग्रौर कौन छोटा ? कौन ऊँचा, ग्रौर कौन नीचा ? तेरा मंदिर कोई भाड़े का मकान नहीं; वह किसी खाला का घर नहीं !

: १२ :

कुछ ऐसा विश्वास बन गया है कि तेरे दरबार में सदा से दीन-दुर्बलों का ही ग्रादर रहा है। जहाँ दीन ग्रौर दलित दुतकारे जाते हों, वह तेरा दरबारही नहीं। झूठे दींदार ग्रपनी ज़बरदस्ती से किन्हीं दूसरों को ही स्वर्ग के राज्य में ठेल-ठालकर ले जाना चाहते हैं। पर ग्रसल में वेही वहाँ प्रवेश पा सकेंगे, जो ग्राज यहाँ रोके जा रहे हैं।

: १३ :

तेरा तिरस्कार ग्रब तो देखा नहीं जाता। क्यों न विद्रोही बन जाऊँ, इन मज़हबी डकैतों ग्रौर ईमान के सौदागरों के खिलाफ ? कहाँतक देखी-सुनी जायेगी, धर्म के पवित्र नाम पर, तेरी सत्ता की बिडम्बना ? ग्राँखें देखते-देखते पथरा जायेंगी, सुनते-सुनते कान पक जायेंगे। किसी दिन ठंडे से भी

ठंडा हृदय विद्रोह की आग से जल उठेगा।

: १४ :

बड़े-से-बड़े पाप-कृत्य भी तेरी ओट में छुपाये जा रहे हैं। और, तेरी सत्ता के नाम पर सुकर्म भी धूल में मिला दिये गये हैं। तेरा नाम लेकर कुछों को आसमान पर चढ़ा दिया जाता है, और तेरी अनकृपा का डर दिखाकर कुछों को रसातल में फेंक दिया जाता है। ऐसा तू कबतक बर्दाश्त करेगा?

: १५ :

मैं धर्मारूढ़ हूँ या धर्म-च्युत, आस्तिक हूँ या नास्तिक, इस सबका जानने-वाला तो एक तूही है; भेड़ियाधसान मज़हब की यह भीड़ नहीं। इस बहु-मत के दिये फैसले को मैं फैसला नहीं मानता।

: १६ :

दिल में तेरे मिलने की अगर लगन हो, तड़प हो, तो कोईभी रास्ता तेरा हाथ पकड़ा देगा, वरना, अच्छे-से-अच्छे रास्ते में भी नक़ली बनावटही है। सभी सच्चे हैं, और सभी झूठे। तू मिल गया तो सब सच्चे और परदे की ओट में रहा, तो फिर झूठे तो हैं ही। तेरा दीदार न मिला, तो वह खोजही किस काम की? वह रास्ताही किस मतलब का?

: १७ :

उन खुदमस्तों के चरणों की धूल अपने माथे पर चढ़ा लो न, जिनकी न जाति का पता हो, न धर्म का, जो समाज के सजायाफ्ता हों, दीन और धर्म के ठुकराये हुए हों। ऐसेही गुदड़ी के लालों के पैरों को तुम चूमो, जो उसकी खोज में शास्त्रार्थ को छोड़ चुके हों, तर्क-शृंखला को तोड़ चुके हों।

: १८ :

संभव है, इस सद्धर्म-शून्य युग में भी प्रकाश का मार्ग सूझ जाये। तब धार्मिक जगत् में विप्लव कुछ-न-कुछ करना ही होगा।

: १९ :

आजतक हमने उपेक्षाही तो अपने जीवन की की है। बुद्धि का तिर-स्कार हमने किया और आत्मा की भी अवज्ञा हमींने की। ऐसे तुच्छीकृत

उपकरणों को धार्मिक जीवन का नाम देकर तेरी सत्ता का केवल उपहास ही तो किया है।

: २० :

हृदय में कभी-कदास कर्म-शून्य कुछ कोमल वृत्तियाँ जाग भी गईं, तो क्या ? कभी-कभी पापजनित दुर्बलताओं से भी तो अंतर्वृत्तियाँ कोमल हो जाया करती हैं। किन्तु हे सुन्दरतम ! ऐसी निर्जीव कोमल वृत्तियों की धुँधली आँखों से तेरा अनुपम सौंदर्य न तो अवतक दिखाई दिया है, और न शायद कभी दिखाई दे।

: २१ :

उन दिनों धर्म की नसों में त्याग का उष्ण रक्त दौड़ता था। अनासक्ति की प्राण-शक्ति उसे सुलभ हो गई थी। पर उस त्याग और अनासक्ति का अभिसंचय हम कायरों से न हो सका।

: २२ :

जीवन-संग्राम में हम यदि अमृत विजय चाहते हैं, तो एक जीवित विश्व-धर्म खोजनाही होगा। रूठे हुए मेरे मालिक ! तेरे आगे उसी नवनीत की भेंट रखकर हम तुझे मना सकेंगे। कोई ऐसी भेंट तेरे चरणों पर अर्पित करना चाहते हैं, जिसे जन साधारण ने निर्मित किया हो। वह मनुष्य-निर्मित हो; न पशु-निर्मित हो, न देव-निर्मित। हमारी उस नवीनतम भेंट को, हे सुन्दरतम ! एक बारभी तूने अपनी मीठी-मुस्कान से छू दिया, तो हम कृत-कृत्य हो जायेंगे।

: २३ :

विश्वेश ! तू जिस धर्म की ओर आज अपना संकेत कर रहा है, वह न तो नूतन होगा, न पुरातन। विश्व उस धर्म की साधना करता हुआ नवीनता में प्राचीनता की, और प्राचीनता में नवीनता की झलक देखेगा।

: २४ :

प्रज्ञा से प्राचीन और क्या हो सकता है ? मानव-धर्म की साधना प्रज्ञा के ही द्वारा होगी। तुम कहते हो कि धर्मशास्त्र तुम्हारे प्राचीन हैं, किन्तु

शास्त्रों की जननी प्रज्ञा तो उनसे भी प्राचीन है।

: २५ :

प्राण-शक्ति उस धर्म में भावना की होगी—ज्ञान एवं कर्म की अविरोधिनी भक्ति-भावना, वासना को ठुकराकर साधना को आलिंगन देनेवाली शुभ्रतम भावना। वही सत्य के उपादान से अक्षय सौंदर्य की सृष्टि खड़ी करेगी।

: २६ :

अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष के समन्वय-पथ पर ही हमें अब अपना जीवन-रथ ले चलना होगा।

: २७ :

मेरे न्यायाधीश! कर्मवाद का आदर करते हुए भी साधक अपनी दुर्बलताओं का लेखा तेरे चरणों में रख दिया करेंगे, तुझसे पर्दा न रखा जायेगा।

: २८ :

वह समय आयेगा, जब मत-विद्वेषी, वर्ण-विद्वेषी धार्मिक और सामाजिक क़ानूनों के रचनेवाले न होंगे; अदालतों में जब धर्म की शपथ न ली जायेगी; ईमान का सौदा वहाँ तय न किया जायेगा; जब मतभेद तो होंगे, मगर मन-भेद नहीं; एकता के सूत्र में जब विविधता के मोती गुँथे रहेंगे।

: २९ :

प्रेम को आलिंगन देना है तो संकीर्णता की सीमा को लाँघनाही होगा। धर्म में सत्य की झाँकी देखनी है, तो सहिष्णुता का अवलम्ब लेनाही होगा।

: ३० :

धर्म-मज़हबों की अँधेरी गंदी कोठरियों में कुछ-कुछ प्रकाश अब झाँकने लगा है। अब कट्टरता के मारे दम न घुटा करेगा। खुले आसमान के नीचे आज़ादी की साँस ले सकेंगे। जगत्पिता! जिस दिन हम सारे बच्चे तेरी प्यारी गोद में खूब किलक-किलककर खेलेंगे, उसी दिन हमारी युग-युग की असम्पूर्ण साधना सफल होगी।

साहित्य का निर्मल दर्शन

कबीर, तुलसी, सूर और जायसी-जैसे अमरकीर्ति कवियों के कारण किसीभी भाषा का साहित्य हिमालय की ऊँचाई और सागर की गहराई से होड़ लगा सकता है। इनमें भी कबीर और तुलसी तो हमें हिमांचल की चोटियों से भी ऊँचे ले जाते हैं। उनकी शुभ्र वाणी ने युग-युग के मानव को वह अमृत-सन्देश दिया है, जिसके बल पर वह दुर्जित आसुरी सैन्य पर विजय प्राप्त कर सकता है।

तुलसी की दृष्टि में कवि-वाणी लोक-पावन 'सुर-सरिता' के समान सबका हित साधन करनेवाली है—

कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुर-सरि सम सबकर हित होई॥

कबीर ने कवि-वाणी की ही तुलना ग़रीब पतिव्रता नारी से नीचे लिखी साखी में की है—

पतिबरता मैली भली, गले कांच की पोत।
सब सखियन में यों दिपै, ज्यों रवि ससि की जोत॥

सूर ने 'सगुण-लीला' में और जायसी ने 'प्रेम की पीर' में इसी प्रकार कवि-वाणी की प्राण-प्रतिष्ठा की है। ये दोनों ही लक्ष्य नित्य-सुन्दर और सहज-निर्मल हैं। दोनों ने ही 'प्रेय' और 'श्रेय' का बड़ा सुन्दर सामंजस्य स्थापित किया है। इन सत्कवियों की शुभ्र दृष्टि न्यूनाधिक अंश में हिम-खण्ड की धवलता पर ही सदा रही है; और यह 'कुन्देन्दुतुषारहार-धवलता' ही वाग्देवता की दिव्य प्रतिमा है। वाणी तो अवर्णा है। अथवा, उसका सब कुछ श्वेत-ही-श्वेत है, जो निर्मलता का प्रतीक है। सन्त-वाणी में इसी आलोकमयी निर्मलता की झलक मिलती है। भाषा यहाँ अपनेको भूल जाती है। यथार्थवाद और आदर्शवाद और सभी प्रकार के वाद इस महारसार्णव में विलीन हो जाते हैं। तुलसी के मानस की कैसी महिमा है—

अस मानस मानस-चख चाही।
भइ कवि-बुद्धि विमल अवगाही॥

भयउ हृदय आनन्द-उछाहू।
उमगेउ प्रेम-प्रमोद-प्रवाहू ॥

जायसी के 'मानसरोवर' के भीतरभी अणु-अणु-व्यापी उज्ज्वल आनंद की ही रहस्यमयी व्यंजना हुई है—

देखि मानसर रूप सुहावा।
हिय हुलास पुरइनि होइ छावा ॥
गा अँधियार, रैनि-मसि छूटी।
भा भिनसार, किरिन रबि फूटी ॥

अँधेरी छिप गई, मलिनता विलीन हो गई और अब उषा का उज्ज्वल उदय हो रहा है।

और कबीर का 'हंस-लोक' तो दशों दिशाओं से शुभ्र-ही-शुभ्र दीखता है, जहाँ नित्य-नित्य शरद् की पूर्णिमा छिटक रही है—

वही दिसवा माँ नित ही पूनो, कबहुँ न होत अँधेर।
एक सुरज कै कवन बतावै, कोटिन सुरज उँजेर ॥

सूर का 'चरण-सरोवर' भी ऐसे ही नित्य मिलन-रस का प्रीति-प्रलोभन दे रहा है—

चकई री, चलि चरन-सरोवर, जहाँ न प्रेम-वियोग।

यह सारीही वाणी हमें वहाँ, उस निर्मल अन्तरिक्ष में अपने रुपहरे परों पर बिठाकर ले जाती है, जहाँ हम अपने रस-मानस का निखरा-ही-निखरा रूप पाते हैं।

* * *

कवि के मूलभूत आश्रय को तोड़-मरोड़कर अपने मतलब का अर्थ निकालना सर्वथा अनुचित है। अपने युग की प्रत्येक प्रवृत्ति के साँचे में तब के उस साहित्य को ढाला ही क्यों जाये ? विरहिणी राधा को व्यर्थ आधुनिक युग की समाज-सेविका न बनाया जाये। राधा के अकृत्रिम रूप का सजीव चित्रांकण तो सूरदास से ही यथार्थ बन पड़ा है। कालिदास की शकुन्तला को वल्कलवसना ही रहने दिया जाये।

उस आश्रम-वासिनी कण्व-कन्यका की प्रकृति-मनोज्ञता तो उसी अपने रूप में है। वासन्ती साड़ी में लपेटकर या कुर्ता-सलवार पहनाकर उसे राष्ट्रीय स्वयं-सेविका क्यों बनाया जाये? फूलों को प्रकृतिने अनेक रंगों और सुगंधों की जो अतुल सम्पदा प्रदान की है, उसपर उन्हें सन्तोष ही नहीं, गर्व भी है। उनकी पराग-पुलकित पंखड़ियों पर अपनी तबीयत के हम नक़ली रंग न चढ़ायें; रंग चढ़ाने के लिए तो कागज़ के फूल काफ़ी हैं।

× × ×

आश्चर्य और क्लेश होता है यह देखकर कि यथार्थवादिता और प्रगतिशीलता की ओट में प्रकारान्तर से उसी हीन उद्दाम वासना को लाक्षणिक रचनाओं द्वारा अनुचित उत्तेजन आधुनिक काल में भी दिया जाता है। ऐसी रचनाओं में जो क्षणिक रस उपलब्ध होता है वह तो उन्मादक है। सच्चा आनन्द-रस तो उच्छृंखल चित्त-वृत्तियों के निरोध से ही उपलब्ध होता है। 'फिसलन' को हम सहज वृत्ति नहीं कहेंगे। प्रगति तो हमारी ऊँचे चढ़ने में है। प्रियतम की सहज सेज तो 'गगन-मंडल' में, अथवा तो 'सूली' के ऊपर है—किसी गढ़े में वह साजन अपनी सेज लगाने नहीं गया। गढ़े में तो कर्दम-ही-कर्दम है। हाँ, उत्पत्ति कमल की कर्दम से भलेही हुई हो, पर आनंद-विकसित तो वह 'ऊपर ही', 'ऊँचे पर' ही हुआ है।

× × ×

यथार्थ सहज असल में क्या वस्तु है? यथार्थ तो आत्मा का सहज विकास है। मनुष्य के उदात्त भावों को, उसके उत्तमांश को, जिससे व्यष्टि और समष्टि दोनों का ही उदय और अभ्युदय होता हो, अनुभूति की भाषा द्वारा हूबहू चित्रित करनाही यथार्थ कलात्मक व्यंजना है। समाज से जैसा पाये वैसा-का-वैसा उसे लौटा देने में कलाकार की कोई विशेष कुशलता नहीं। संखिये को यथा-का-यथा न देकर शुद्ध करके ही देते हैं। मानव में के पशु की अर्च्चना करने में यथार्थ कला नहीं; कलाकार का धर्म तो मानव को उसके अपने रूप में, जो निश्चय ही पशु से ऊपर है और असीम सुन्दर है, ज्यों-का-त्यों चित्रित करनाही है।

संत-वाणी

स्पष्ट है कि सृष्टि के आदिकाल से ही मानव के विविध विचारों को व्यक्त करनेवाली वाणी इन तीन दिशाओं में क्रमिक विकास करती आ रही है :—

१—निम्नवृत्तियों या वासनात्मक पशु-वृत्तियों की ओर;

२—तर्क-वितर्कात्मक पाण्डित्यपूर्ण वृत्तियों की ओर;

३—त्यागात्मक प्रसादपूर्ण उच्चवृत्तियों की ओर।

पहली दिशा में वाणी ने रंग-बरंगे रसभरे साहित्य के रूप में विकास-यात्रा की; दूसरी दिशा में उसने सिद्ध-असिद्ध वादों को शास्त्रीयरूप दिया; और, तीसरी दिशा में वह भेद डालनेवाले आवरणों को फेंकती हुई स्वरूप की झलक लखाकर निर्मल मानस पर श्वेत कुसुम-कलियाँ बिखेरती रही। तीनों के अलग-अलग कोटि के रसज्ञभी हर देश और हर काल में रहे हैं।

पहले प्रकार के साहित्य-रसिकों को वाणी ने रंग-रंग की प्यालियों में मादक मधु उँडेल-उँडेलकर पिलाया एक कलात्मक मुसकान के साथ।

दूसरे प्रकार के रसज्ञों को वाग्-व्यायाम दिखा-दिखाकर चकृत और आनन्दित किया और ऐसा ताना-बाना फैलाया कि जिसका आजतक न ओर मिला, न छोर।

तीसरे प्रकार के रसिकों में भारी संख्या साधारण जनों की रही, जिनको वाणी ने श्वेत कमल के पत्तों में ऐसा रस ढाल-ढालकर पिलाया, जिसने उनकी जन्म-जन्म की जलती प्यास को सहज-सहज बुझा दिया। अज्ञात रूप से उस अनूठे रस में वाणी ने साहित्य और शास्त्र के रूप कोभी उतारकर घोल दिया था। रसिकों की यह तीसरी कोटि सचमुच कितने मुनाफे में रही!

ऊपर कही तीसरी दिशा की ओर जो वाणी झीने-झीने अनदेखे और

अनसुने पथ पर डग भरती और अन्तर के रस को बिखेरती आ रही है वह है सन्त-वाणी। जिस औघट घाट पर वह खड़ी है, वहाँपर न तो कोई लीक है, और न कोई रेख। उस बेगम घाट पर जो आपको भूलकर अपने आपको देखना चाहें, उनकी वहाँ साधिकार गति है। सन्त-वाणी ऐसी मीठी बोली में हर किसीसे संकेतभरे बोल बोलती है, जो हर भाव और हर रूप में पूरब की जानी-पहचानी-सी लगती है। शास्त्रों की बड़ी-बड़ी गुत्थियाँ वहाँ अन-पढ़ों और अनलिखों के खुरदरे हाथों से सहज ही खुल गई हैं। पण्डित और मुल्ले खीझ-खीझ उठते और दाँतों उंगली दबाते हैं, कि जिस ग़ैबी जौहर का उन्हेंभी भान नहीं था, उसे अटपटे जुलाहों, धुनियों, कसाइयों और चमारों ने खोल-खोलकर रख दिया—न तो कुलीन का भेद रखा, न अकु-लीन का! वाणी ने इन सन्तों की राममढ़ैया की मेहमानी पाकर अपने आपको कृतकृत्य माना।

× × ×

कबीर, रैदास, धर्मदास, नानक, दादू, पलटू आदि की बानी को छूते-ही ऐसा लगा कि अलौकिक महारस का पूर्ण परिपाक तो यहींपर हुआ है। साहित्यालोचकों का यह कथन अर्थशून्य-सा जँचा कि "इन संतों की अटपटी रचनाओं में न तो साहित्यिक सरसता है, न संगीत की लय है और न कला की ऊँची अभिव्यंजनाही, और भाषाभी उनकी ऊबड़-खाबड़-सी है।" देखा कि रीति-ग्रन्थों का फीता लेकर वे साहित्यालोचक संत-वाणी का असीम क्षेत्रफल निर्धारित करने गये थे—चौकोर बँधे हुए तालाब पर धीरे-धीरे सरकनेवाली नौका जैसे अनन्त सागर के बिखरे वैभव को मापने पहुँची हो!

"मसि-कागद" से नाता न रखनेवाले जुलाहों, शिल्पियों और खेति-हरों की अटपटी "बाउल-बानी" की अथाह गहराई में उतरा जाये, तो वहाँ वेद, उपनिषद और त्रिपिटक की झीनी-झीनी झाँकी तो मिलेगीही, सूफी औलियों की मौज-मस्तीभी वहाँ लहराती नज़र आयेगी। वेदान्त, भागवतभक्ति, ब्रह्मविहार और तसव्वुफ इन सब धाराओं का सहज सुन्दर संगम वहाँ देखने को मिलेगा।

कबीर की बानी

कबीर ने जो कुछभी कहा अपने खुद के जीवित-जागृत अनुभव से कहा, दूसरों के मुँह की कही बात उन्होंने नहीं कहीं। पढ़-पढ़करभी कोई बात नहीं कही——

'मसि कागद छूयौ नहीं, कलम गही नहिं हाथ।'

जो कहा, अनूठा कहा, किसीका जूठा नहीं। इसीलिए जिस किसीने केवल शास्त्रीय पांडित्य का सहारा लेकर कबीर के सिद्धान्तों की गवेषणा और आलोचना की, वह अपने प्रयत्न में प्राय. सफल नहीं हुआ। कबीर के तत्त्व-दर्शन की थाह दार्शनिक विवेचन और विश्लेषण के द्वारा नहीं, प्रत्युत सत्य की सहज साधना के द्वाराही किया जा सकता है। कबीर की बानी में जहाँ हम ज्ञान-विज्ञान का सूक्ष्म-से-सूक्ष्म निरूपण पाते हैं, वहाँ योग का गूढ़ातिगूढ भेदभी हमें मिलता है और भक्ति का गहरे से-गहरा रहस्यवाद-भी। वेदान्तभी उसमें पूरा-पूरा उतरा है, और साथही, सूफी सिद्धान्त-भी। किन्तु वहाँ उनकी तत्त्वदर्शन की विविध विवेचनाएँ तथा मान्यताएँ उन्हीं सब अर्थों में नहीं मिलेंगी, जिन अर्थों में कि उन्हें हम अनेक शास्त्रों में सामान्यतया स्थिर पाते हैं, परिणामतः उनके आधार पर कबीर के स्वानुभूत तत्त्वदर्शन का विवेचन और विश्लेषण एकांगी या अधूराही रहता है।

कबीर की निपट गहरी और ऊँचे घाट की बानी के विषय में ऊपर-ऊपर से कुछ कहा जा सकता है, तो केवल इतना ही कि—

१. उसमें निरपेक्ष ज्ञान-विज्ञान की ओर पद-पद पर गूढ़ संकेत हैं। पर वह लोगों को धोखे में नहीं रखना चाहती। वह 'गुन में निरगुन की और निरगुन में गुन' की बाट बताती है——निर्गुणभी उसका अनूठा और सगुण-भी उसका अनूठा! उसका प्रतिपाद्य ब्रह्म इसी प्रकार द्वैत और अद्वैत दोनों से परे और ऐसाही उसका रामभी।

२. उस बानी में जगह-जगह पर योगमार्ग का उल्लेख आया है। पर रास्ता वह वैसा टेढ़ा-मेढ़ा और विकट नहीं है। तथापि योगी तो उसे फिस-

लता हुआ ही दिखाई देता है; योग उसका सहज-ही-सहज है, वैसा ही, जैसा कि आत्मा का परमात्मा से मिलन। खुदही थके-माँदे मार्गदर्शक भला प्रियतम के निकट कैसे पहुँचा सकते हैं ?

३. भक्ति-मार्ग पर चलने की वह सलाह देती है। कहती है बड़े चाव से, कि 'जतन करो सखि पिया मिलन की।' राह रपटीली है, उसपर गिर-गिरकर और उठ-उठकर बड़े जतन से चलना पड़ता है, और जब उस ठौर पर पहुँचते हैं, लाल की लाली में सब कुछ रँगा हुआ दीखता है। सो 'भक्ति-मार्ग' भी उसका अपनाही है।

४. बाह्याचारों की उसे तनिकभी अपेक्षा नहीं––उसकी दृष्टि में वह कुबाट है। भले ही चला करें पंडित-पांडे और शेख-मुल्ले उस रास्ते से; वह अपने साधु भाई को उसपर कभी नहीं चलने व भटकने देगी।

५. हिन्दू और मुसलमान दोनोंही, उसकी नज़र में, सही रास्ते नहीं जा रहे थे; दोनों ही अहं या ख़ुदी को गले से लगायें उलटी राह जा रहे थे, तो उन्हें तो उसे फटकारनाही था, उन्हेंही जो वेद और कुरान की गहराई में न पैठकर उनके पन्नों के उलटने-पलटने में ही अपनी पंडिताई और मुल्लाई को खर्च कर रहे थे।

६. सत्य की राह में जोभी आड़े आया, उसे उसने बख्शा नहीं। कर्मकांड, जात-पाँत और छूतछात को चिपटाये जिसेभी उसने देखा, गुमराह पाया, और उसे झकझोर डाला। उसके प्रखर प्रवाह में तिनके की तरह बह गये सारे बाह्याचार, मिथ्याचार।

७. कुछ उलटबाँसियाँभी उस बानी में आई हैं––मौज के अटपटे उद्‌गार हैं वे। 'सहज' साधना में उनका वैसे खास महत्त्व नहीं।

८. भाषा को उस बानी का 'अधिनायकत्व' स्वीकार करना पड़ा। उस विद्युत्-वेग को देखकर वह दिङ्-मूढ़-सी होगई। उसके एक-एक इंगित पर मोहित भाषा ने अपने रूप को काँपते हुए साधा और सँवारा।

ऐसी है कबीर की अनूठी बानी ! कौन और कैसे उसका बखान करे? बेचारा पंगु साहित्य-समीक्षक कहाँ पहुँच सकेगा उस अत्यन्त ऊँचे घाटतक !

भारतेन्दु

कालदेवता कुछ ऐसा कृपण है कि अपने कागज़ और स्याही को वह बड़ी-ही किफ़ायत से खर्च करता है। अपनी बही में उसने अबतक बहुतही थोड़े जन्म और मरण टाँके हैं। कुछेक अवतारों, कतिपय साधु-संतों और थोड़े-से रससिद्ध कवियों के नाम उसने बहुत सोच-सोचकर लिखे हैं। कालजौहरी की कसौटी पर जो खरा उतरे वही अमर, फिर उसका जन्म-दिन या मरण-दिन हम मनायें या न भी मनायें। यदि मनायें तो उसमें हमारा अपनाही गौरव है अथवा पुण्य-निधि का अर्जन है। कृतज्ञता-अर्पण से भी बड़ा क्या कोई पुण्य-लाभ है ?

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की गणना निस्संदेह रससिद्ध अमर कवियों में है और रहेगी। काल के अजर बही-खाते में अवश्य भारतेन्दु का शुभ नाम जमा की तरफ़ लिखा मिलेगा।

एक शताब्दी खिसक गई आज।

काशीपुरी के पुण्य प्रांगण में उतरा था वह, आज से सौ वर्ष पूर्व। पुलकित प्रकृति ने उसदिन सर्वत्र जैसे गुलाल बिखेर दी थी।

वह बालक, क्योंकि, वाग्देवता का मंगल संदेश लेकर उतरा था।

उसे सौ-पचास बरस नहीं रहना था यहाँ—
चौंतीस बरसही तो ठहरा और चल दिया।
जल्दीही वह वाणी की शुभ्र आराधना में ध्यानस्थ हो गया।
इस अल्पकाल में बहुत-कुछ सम्पदा लुटा देने का संकल्प था उसका।
साधना-मन्दिर में कवि को मधुमय वातावरण मिला;
और उसने अपने आपको ऐसे छिटका दिया,—
जैसे आनन्दविह्वल मयूर अपने रंग-बरंगे प्रफुल्लित पंखों को।
और वह नाच उठा—

भरित नेह नवनीर नित, बरसत सुरस अथोर।
जयति अपूरब घन कोऊ, लखि नाचत मन-मोर॥

कवि का अन्तर्घट श्यामघन के अनल्प रस से मुँहतक भर गया और फिर बाहर छलक उठा, उमंग उमड़ पड़ी—

भक्त-हृदय-बारिधि अगम, झलकत स्यामहि रंग।
बिरह-पवन-हिल्लोर लहि, उमँगी प्रेम-तरंग॥

वह अब रस की हलकी-हलकी लहरों पर झूल रहा था।
कल्पना खड़ी-खड़ी कवि के आनन्द-नृत्य को एकटक देख रही थी,—
उसे अपनी शृंगार-सुषमा फीकी-सी दीखने लगी;
वासना के निर्वात कोष में शताब्दियों से वह बन्द पड़ी थी,
और पीली पड़ गई थी।
कवि को रस-तरंगों पर नाचते हुए देखकर
कल्पना को फिर वे दिन याद आ गये,—
जब सूर और मीरां ने कलिंदजा-कूल पर
वंशी की विरह-विह्वल तानों से उसके अंतर को मीठे-मीठे वेधा था;
और जब रसखान और घनानन्द ने उसे अनुराग-वियोग के लाल-पीले फूलों से सजाया था।
हाँ, तो मधुमयी कल्पना उसका आनन्द-नृत्य एकटक देख रही थी,
और वह गा रहा था—

सम्हारहु अपनेकों गिरिधारी।
मोर-मुकुट सिर पाग-पेंच कसि राखहु अलक सँवारी॥
हिय हलकत बनमाल उठावहु, मुरली धरहु उतारी।
चक्रादिकन सान दे राखौ, कंकन-फँसन निवारी॥
नूपुर लेहु चढ़ाइ, किंकिनी खींचहु, करहु तयारी।
पियरो पट परिकर कटि कसिकैं बाँधौ हो बनवारी।
हम नाहीं उनमें जिनकों तुम सहजहि दीनों तारी॥
बानो जुगवो नीकैं अबकी 'हरीचन्द' की बारी॥

अपनेही स्वरों और अपनेही ठाट पर गाते हुए सुना,
तो अन्तरिक्ष से आँधरे सूर ने कवि पर पारिजात-पुष्प बरसाये।
और जब सूरदास के कान में यह भनक पड़ी,—

हम तो मोल लिये या घर के।
दास-दास श्रीवल्लभकुल के, चाकर राधावर के॥

तब तो उनके हर्ष का पार नहीं रहा।
मन हुआ कि अपने इस सखा को दौड़कर गले लगालूँ!
धन्य! श्रीवल्लभकुल की रस-परम्परा आजभी वैसी ही हरी है!
प्रकृति पुलकित हो उठी,
अणु-अणु अरुणिमा से भींग गया।
और कवि गाये जा रहा था—

रहे यह देखन कों दृग दोय।
गये न प्रान अबौं अँखियाँ ये जीवति निरलज होय॥
सोई कुंज हरे-हरे देखियत, सोई सुक, पिक, कीर।
सोई सेज परी सूनी है, बिना मिले बलबीर॥
वही झरोखा, वही अटारी, वही गली, वही साँझ।
वहै नाहिं जे बेनु बजावत, ऐहैं गलियन माँझ॥
अजहूँ वही, वही गौएँ ये, वही गोप अरु ग्वाल।
बिडरे सब अनाथ-से डोलत व्याकुल बिना गोपाल॥

नंद-भवन सूनो देखत क्यों गयौ नाहिं हिय फाट ।
'हरीचन्द' उठि वेगहिं धावौ, फेरहु ब्रज की बाट ।।

ग्रौर, रसखान ग्रौर घनानन्दने सुना कि,

कवि हरिश्चन्द्र उन्हींके स्वर में स्वर मिलाकर प्रेम-गाथा गा रहा है,
तो वेभी वहाँ ग्रा पहुँचे ।

उन दोनों रसिकों ने प्रेम की मस्ती में झूमते हुए सुना,—

हमहूँ सब जानतीं लोक की चालनि, क्यों इतनी बतरावती हौ ?
हित जामें हमारो बनै सो करौ, सखियाँ तुम मेरी कहावती हौ ।।
'हरिचंदजू' या में न लाभ कछू, हमें बातनि क्यों बहरावती हौ ?
सजनी, मन हाथ हमारे नहीं, तुम कौनकों का समझावती हौ ?

ग्रौर, निगोड़ी ग्राँखों की कसक-कहानीभी सुनी उन प्रेम-पीर के दोनों मर्मियों ने,

इन दुखियान कों न सुख सपनेहूँ मिल्यौ,
योंही सदा व्याकुल विकल ग्रकुलायँगी ।
प्यारे 'हरिचन्दजू' की बीती जानि ग्रौधि जौपै
जैहैं प्रान तऊँ ये तो साथ न समायँगी ।।
देख्यौ एक बारहूँ न नैन भरि तोहिं यातें,
जौन-जौन लोक जैहैं तहीं पछितायँगी ।
बिना प्रानप्यारे भये दरस तुम्हारे हाय,
देखिलीजौ ग्राँखें ये खुली ही रहि जायँगी ।।

कवि की प्रेम-व्यथा में रसखान ग्रौर घनानंद दोनों ने ग्रपना-ग्रपना प्रतिविंब पाया;

वे फूले नहीं समा रहे थे ग्रपनी रस-लता को कुसुमित देख-देखकर ।

उनकी रस-परंपरा ग्रभी भी सुरक्षित थी ।

क्योंकि विकास पर प्रसन्न दृष्टि थी कवि की, उच्छेद पर नहीं ।

हँसते-हँसते उसने प्रकृति के श्रृंगार-पुष्पों का रंग पलट दिया;

राग ग्रौर रसभी नये-नये खोज निकाले;

पर मूल परंपरा का न त्याग किया, न उच्छेद ।
कवि ने अपने उद्यान में कल्पना-समीरण को
सभी दिशाओं से मुक्त प्रवेश करने दिया,
पर बारबार निकला वह
उद्यान के ही फूलों की गंध में भींग-भींगकर ।
कवि की अब एक नई ही दिशा की ओर दृष्टि गई,
जननी की दुर्दशा और व्यथा अंकित थी वहाँ ।
उसके आर्द्र अंतर से निर्झरिणी फूट पड़ी—और तब के उस युग में !
प्रस्तर-खंड भी काँप उठे उस दिन,
जब उसने पराधीनता के मूक प्रतीकों को धिक्कारा,
उन निर्वीर्य चुपचाप खड़े दर्शकों को—
काशी प्राग अयोध्या नगरी । दीनरूप सम ठाढ़ीं सगरी ।।
चंडालहु जेहि निरखि घिनाई । रहीं सबै भुव मुहँ मसि लाई ।।
हाय पंचनद, हा पानीपत । अजहुँ रहे तुम धरनि बिराजत ।।
हाय चितौर, निलज तू भारी । अजहुँ खरो भारतहि मँझारी ।।
जा दिन तुव अधिकार नसायो । ता दिन क्यों नहिं धरनि समायो ।।
तुम में जल नहिं जमुना गंगा । बढ़हु बेग करि तरल तरंगा ।।
धोवहु यह कलंक की रासी । बोरहु किन झट मथुरा कासी ।।
धोवहु भारत-अपजस-पंका । मेटहु भारत-भूमि-कलंका ।।
किसी वादविशेष की लचीली डाल तो पकड़ी नहीं थी उसने—
हाँ, न तो अटपटे प्रतीकों की धुँधली छाया को छूने दौड़ा वह,
न किसी रहस्य के अवगुण्ठन के भीतर उस कवि ने अज्ञात आँख-मिचोनी खेली;
और न प्रगति के कोलाहल-प्रिय पथ पर ही उसने लंबे-लंबे डग भरे ।
वह तो अपने उसी परिचित परंपरित प्रेम-पथ पर जीवनभर चलता रहा, और प्रत्येक पग पर अपनी पैनी दृष्टि से मापता रहा उस सबको, जो चारों ओर युग-युग की प्रकृति और इतिहास ने बिखेर रखा था ।

क्योंकि वह वैष्णव था, 'तदीय समाज' का संस्थापक,
और इसीलिए सर्वोच्च शिखर पर चढ़कर देखा था उसने
दूर-दूरतक की सृष्टि को अभेद की श्वेत-श्वेत दृष्टि से,
और समन्वय का देश राग अलाप उठा था वह--

अहो तुम बहुविधि रूप धरो।
कहुँ ईश्वर कहुँ बनत अनीश्वर नाम अनेक परो॥

और,--

लगावौ चसमा सबै सफेद।
तब सब ज्यों को त्यों सूझेगो, जैसो जाको भेद॥
आग्रह छोड़ि सबै मिलि खोजहु, तब वह रूप लखैहै।
'हरीचंद' जो भेद भूलिहै, सोई पिय कों पैहै॥

पर उस प्यारे साजन को कैसे भेंटें,
जबकि यह धर्म और यह मत-मतांतर उसके पथ में आड़े आ रहे हैं!

धरम सब अटक्यो याही बीच।
अपनी आप प्रशंसा करनी, दूजेन कहनो नीच॥

टिकट तो प्रवेश का कच्चा-पक्का सभीके हाथ में है,
पर देखें, कौन बड़भागी उस प्रीतम के क़दमोंतक पहुँच पाता है--

देखें, पावत कौन सोहाग।
बहुत सोहागिनि एक पियरवा, सबही को अनुराग॥

जहाँतक दृष्टि जाये प्रेम-प्रीति का ही मेला भरा दिखाई दे--
यही उसकी लालसा थी, और यही उसकी साधना थी।
देखा कि प्रीति की सगाई टूट रही, वहीं वह व्याकुल हो उठा, जैसे--

अपरस सोला छूत रचि, भोजन-प्रीति छुड़ाय।
किये तीन-तेरह सबै, चौका चौका लाय॥

इसी पथ पर चलते हुए उसने यह भी कहा था कि,

'नारि नर सम होंहि।'

सो आज जहाँतक हमने अपनी यात्रा में प्रगति की है,

वहाँतक तो वह तब, उस युग में ही, चल चुका था !
वाग्देवता की उसने विविध छन्दों से आराधना और अर्च्चा की,
फिरभी उसे वह सूनी-बिहूनी-सी ही दिखती थी,
और मन रीता-रीता-सा लगता था ।
उसकी अंतर्वाणी ने कहा--
"भगवती भारती अब कुछ औरही पूजा-सामग्री चाहती है,
सांगोपांग और युग के अनुरूप ।"
कवि सब समझ गया;
और पूजा के थाल को सजाने लगा नई-नई सामग्री से,
जो सांगोपांग थी और युग के अनुरूप भी ।
उसने गद्य में अपनेको व्यक्त किया,
जिसे वाग्देवता के उपासकों ने कवियों का 'निकष' कहा था ।
नाटक रचे, कथाएँ कहीं, और इतिहास अंकित किया,
और निबंध भी बाँधे ।
अर्च्चा की सारी सामग्री कवि ने स्वर्ण-थाल में सजाली ।
वह संतुष्ट था अब ।
भगवती भारती ने अपने आँचल में साहित्य-सृष्टा की पूजा-सामग्री को स्नेह से रख लिया,
और कवि के मस्तक पर वरदहस्त रखते हुए कहा,--
"वत्स हरिश्चन्द्र ! तेरी साधना सफल हुई;
तूने मेरा आँचल भर दिया ।
मेरे उपासक श्रद्धा-सहित युग-युग तेरा स्मरण करेंगे
'भारतेन्दु' इस मंगलमय नाम से ।"

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का पुण्यस्मरण करतेही हमारी आँखों के सामने वह युग-चित्र आकर खिच जाता है, जब आधुनिक हिंदी का मंगलप्रद जन्म हुआ था, और जब जहाँ-तहाँ उत्साह-ही-उत्साह उमड़ रहा था। अनेक देदीप्यमान नक्षत्र भारतेन्दु के चारों ओर जगमगा रहे थे--प्रेमघन, राधा-

चरण गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट, ठाकुर जगमोहनसिंह, प्रतापनारायण मिश्र आदि।

महाभाग भारतेन्दु आधुनिक हिंदी के जनक थे, जिसे 'भारतेन्दु-नन्दिनी' भी कहें तो अत्युक्ति न होगी। गंगा को भागीरथी हम कहते ही हैं। हरिद्वार में, प्रयाग में और सागर-संगमतक गंगा ने भलेही अतुल वैभव अर्जन किया हो, पर भला, भगीरथ के साधनास्थल, हिमाचल के स्नेह-वत्सल अंक को कभी वह भूल सकती है? दैनन्दिन वर्द्धमान वैभव देख-देखकर हिंदी का आनन्द-पुलकित होना स्वाभाविक है, तथापि अपने बाल्य-काल की सुध कर भारतेन्दु के प्रांगण में प्राप्त वात्सल्य को ही वह अपना सच्चा सौभाग्य मानती है, और यही उसका अपना कुल-शील है। गंगोत्री में गंगा को हम उसके विशुद्ध मूलरूप में देखते हैं। भारतेन्दु-काल में, इसी प्रकार, हिंदी को हम उसकी मूलप्रकृति में पाते हैं। गंगा का यात्रा-पथ कितनाही समृद्ध हो, किन्तु गंगोत्री से उसने कहाँ अपना परंपरित संबन्ध विच्छेद किया है? कितनेही स्थलों की जलराशि और कितने ही भूभागों की मिट्टी को अपनी लम्बी यात्रा में वह आत्मसात् करती चली गई है, किन्तु गंगोत्री के जल-कणों को अपने अंग पर से भला कभी वह पोंछ सकती है? आभूषण उतारे और पहने जा सकते हैं, अंगराग धोया जा सकता है, किन्तु बालिका ने मां के घर पर बचपन में जो गोदने गोदाये थे, उन्हें वह कैसे उतार सकती है, कैसे पोंछ सकती है?

भारतेन्दुजी ने भाषा और साहित्य को नये-नये परिमार्जित रूपों में सँवारा और नई-नई शैलियों में ढाला, किंतु पूर्व परंपरा को भंग नहीं किया, शृंखला की कड़ियों को नहीं तोड़ा। खड़ी हिंदी जौर उर्दू में भी उन्होंने कविताएँ लिखीं, पर ब्रज-बोली का मजीठ-रङ्ग वहाँभी धोया नहीं, बल्कि उसी रंग की ज़मीन पर उन्होंने भाँति-भाँति के बेल-बूटों और तरह-तरह के रंग-बरंगे फूलों को छापा। शंकर, श्रीधर, हरिऔध और प्रसाद ने भी पूर्व-परंपरा के मूल से ही जीवन-रस को खींचा था। माइकेल और रवीन्द्र-जैसे विश्व-विश्रुत साहित्यकारों ने भी तो यही किया था।

ब्रज-भाषा

ब्रज-वाणी-उद्यान के वे केकी और कोकिल एक-एक करके उड़ गये। उपवन सूना-सूना-सा हो गया। भारतेन्दु और राधाचरण प्रभृति कितनेही उस अमराई में जा रमे, जहाँ बारह मास माधवी रसालों की डालों पर नित्य विहार सहज सुना और देखा जाता है। उसी स्वर्ण व्योम-पथ का अनुसरण सत्यनारायण और रत्नाकर ने किया। सूना-बिहूनापन देखकर फिरभी निराश होने का कोई कारण नहीं। सूर ने जिस मोहन-मुरली को फूंका था वह फूंक न जाने कितने अन्तस्तलों का स्पर्श करती हुई रत्नाकरतक जा गूँजी। आजभी उस कूजन से और उस गुंजन से रस का निर्झर फूट पड़ता है।

ब्रज-वाणी की यह गूँज कितनीही सीमाओं को तोड़ती हुई कहाँ-कहाँ पहुँची थी, और उसकी यह यात्रा सहज-सहज ही हुई थी। प्रचार के पाषाण-रथ पर बैठकर उसने अनुराग के अरुण-अरुण नव पुष्प जहाँ-तहाँ नहीं छितराये थे। राजस्थान में अपने साधना के पात्रों में मीरां और दादूदयाल और सुन्दरदास ने उसका रस उँडेला, गुजरात में भक्त नरसी ने अपने पदों का उसी रस से अभिषेक किया और पूरब में विद्यापति और चंडीदास ने कृष्ण-प्रेम की अनौखी झलक उसी दिव्य-दर्पण में देखी। बंगभूमि के अनेक वैष्णव भक्तों ने जिस भाषा में पद-रचना की उसे 'ब्रजबुलि' कहा गया।

उदार ब्रज-वाणी ने भी अपने मंगल-कलश में अनेक जनपदों से मधु

संचय किया। कोने-कोने से ब्रज-भारती का जो स्वागत-सत्कार हुआ उसका यही कारण था कि विभिन्न जनपदीय भगिनियों के अंचलों को जहाँ उसने मधुमय पुष्पों से भरा तहाँ उसने भी उसके विविध वर्णोंवाले सौरभपूर्ण सुमनों से अपने आराम-अंचल को सुशोभित किया। अपनी इस रस-सम्पदा पर उसे कभी गर्व नहीं हुआ, न अपनी सहोदराओं की अनमोल सम्पदा पर डाह। सम्पदा सभीकी प्रेम-प्रीति की थी न।

ब्रज-भाषा-साहित्य के एक अंग पर उँगलीभी उठाई जा सकती है। अनेक प्राकृत कवियों ने राज-दरबारों का सहारा पाकर उद्दाम वासना की रस-सामग्री से नायक-नायिकाओं के रूप में कला की आराधना की है। कोई-कोई रस-विज्ञान की सूक्ष्मतातक भी पहुँचे, परन्तु अधिकांश कवियों ने बाहरी सौन्दर्य के कलात्मक चित्रण द्वारा वासना-प्रधान पशु की ही आराधना की। इस विषैले धुएँ के मारे समाज का कई शताब्दियोंतक दम घुटता रहा, और खिड़कियाँ खोल देने पर भी वह धुआँ आजभी एकदम नहीं निकल पाया। स्वच्छ प्रेमरस के स्रोत को अमर्यादित शृङ्गार के आराधकों ने बन्द कर देने का कुत्सित प्रयत्न किया। समाज की चेतना और पौरुष को इस वासना-दृष्टि ने संकुचित और निर्जीव-सा कर डाला। मानव की हीन-वासनाओं को 'यथार्थ चित्रण' के बहाने, शास्त्रीय रीति से उत्तेजन देकर, उन्होंने रसात्मक जीवन की आखिर क्या साधना की ?

ब्रज-भाषा में और दूसरी जनपदीय तथा प्रादेशिक भाषाओं में जो ऊँची और गहरी रचनाएँ मिलती हैं उनको उनके रचयिताओं ने सोच-सोचकर या दिमाग़ को खरोंच-खरोंचकर अलङ्कारों और चमत्कारपूर्ण उक्तियों से नहीं सजाया था। उनके सामने या उनके ध्यान में न विशेष 'वाद' होते थे। किसी वादविशेष की लचीली डाल को पकड़ने वे नहीं जाते थे। न तो वे अटपटे प्रतीकों की धुँधली छाया को छूने कभी दौड़ते थे, और न किसी रहस्य के अवगुंठन के भीतर वे आँख-मिचौनी खेलते थे। प्रगति के कोलाहल-प्रिय पथ पर वे लम्बे-लम्बे डग नहीं भरते थे। वे तो अपने परिचित परम्परित आत्मानुभूति के प्रेम-पथ पर जीवन-भर चलते रहे। प्रत्येक पग पर अपनी-

पैनी दृष्टि से वे उस सबको भाँपते रहे, जो चारों ओर युग-युग की प्रकृति ने बिखेर रखा था।

हमारे जीवन पर राजनीति के बुरी तरह छा जाने से यदा-कदा जिन अनेक अजीब-अजीब तर्कों को उपस्थित किया जाता है उनमें से एक यहभी है कि हिन्दी का साहित्य तो अभी हाल का है, वह अभी बन ही रहा है, अतः समृद्ध और समर्थ कैसे कहा जा सकता है? इस कोटि में आनेवाले कुछ तर्क-वागीश मानते हैं कि हिन्दी का प्राकट्य तो पचास वर्ष के भीतर-भीतरही हुआ है! जिन अनेक जनपदों की बोलियों ने अपने जीवन-रस से हिन्दी को सैकड़ों वर्षों से सींचा, अपने प्राण-तत्त्वों से उसका निर्माण किया और अपने पृथक् अस्तित्व की बात भूलकरभी कभी सामने नहीं रखीं, उनको आज ये लोग हिन्दी से अलग कर रहे हैं!! क्या कहा जाय इस अनौखी सूझ पर! हिन्दी के मूल को, उसकी मूल प्रकृति को वे भुला देना चाहते हैं। वे ज़रा देखें तो कि प्रयाग, पटना और कलकत्ते को छूकर बहनेवाली गङ्गा का क्या केवल वहीं के जल से निर्माण हुआ है? मूल में गंगोत्री से उसने जो जीवन पाया था, क्या वहाँ के जल-कणों को अपने अंग पर से उसने पोंछ डाला है?

ब्रज की तथा अन्य जनपदों की भाषाओं में आज बहुत कम पद्य-रचना की जाती है। यह खेद का विषय है। अभिव्यञ्जना-शक्ति इनकी बहुत बड़ी है, जिसे ये कई शताब्दियों से प्रकट करती आ रही हैं। अतः ये उपेक्षणीय नहीं हैं। इन समर्थ भाषाओं में रचनाएँ अवश्य होनी चाहिएँ, किन्तु नव चित्रण में अब वे पुराने रंग काम नहीं देंगे। चित्रण के वे दृश्यभी बदल गये हैं। यह बात नहीं कि आधुनिक समाज के मानस का सजीव चित्रण करने में ब्रज-भाषा, अवधी, भोजपुरी, राजस्थानी आदि असमर्थ हैं। कवि-प्रतिभा का इनके साथ निकट का परिचय तो पहले से ही है। संगीत के साथ-भी इनकी स्वाभाविक संगति है। तब कोई कारण नहीं कि लोक-जीवन का सजीव स्वस्थ चित्रण करने में ये भाषाएँ और बोलियाँ असमर्थ हों। उपेक्षणीय और परित्याज्य तब ये कैसे हो सकती हैं? इनके द्वारा शुभ्र वाणी की उपासना का स्रोत अवरुद्ध नहीं होना चाहिए।

मनोराज्य

महाराजा भर्तृहरि ने भव्य भागीरथी के पुण्य तट पर यह कभी कामना अभिव्यक्त की थी—

महादेवो देवः सरिदपि च सैषा सुरसरित्
गुहा एवागारं, वसनमपि ता एव हरितः।
सुहृद्वा कालोऽयं, व्रतमिदमदैन्यं व्रतमिदं
कियद्वावक्ष्यामो वटविटप एवास्तु दयिता॥

अर्थात्, महादेव शंकरही हमारे एकमात्र देव हों, गङ्गाही हमारी नदी हो, एक गुफाही घर तथा दिशाएँ ही वस्त्र हों! यह कालही हमारा मित्र, और किसीके आगे दीन न बननाही हमारा जीवन-व्रत हो! अधिक

क्या, हमें रमणी की ही चाह हो, तो वटविटप को अपनी अर्द्धाङ्गिनी मानें !

भर्तृहरि का यही सार्वभौम साम्राज्य है ! इस कामना को सुनकर दुनिया हँसेगी और कहेगी--भला, यहभी कोई बुद्धिमत्ता है ! ऐसी कामना तो केवल कवि-कल्पना ही उतार सकती है। कवि-कल्पनाही सही, पर कुछ धूल-भरे हीरे ऐसेभी मिल जायँगे, जो भर्तृहरि की इस मनोवांछा को सुनकर कह उठेंगे--नहीं, भाई ! यह कल्पना नहीं, सर्वथा सत्य है। सच्चा साम्राज्य तो यही है। मौज ही तो राज्य है। जिसके मन में मौज है, वही राजा है। मन चङ्गा तो कठौती में गङ्गा। उदयाचल से लेकर अस्ताचल-पर्यन्त प्रभुता पाकरभी जो संतुष्ट और शान्त नहीं, भला, वह राजा कहा जा सकता है ? जिसका चंचल चित्त तृष्णा-तरंगिणी में गोते लगा रहा हो, जो मिथ्याभिमान के पीछे लोलुप श्वान की तरह दौड़ रहा हो, उसकी अतुल सम्पदा, सम्पदा नहीं; उसका समस्त सुख, सुख नहीं; उसका आसमुद्रान्त राज्य, राज्य नहीं। जो मन का दास है, वह जहान का गुलाम है, और जो मन का शासक है, वह दुनिया का शाहंशाह है। स्थितप्रज्ञ महापुरुष किस सम्राट् से कम है ? विषयी, लोलुप सम्राटों की, दरिद्र बादशाहों की, उन बेफिक्र मस्त फकीरों के साथ तुलना करनी ही मूर्खता है। सम्राटों की मुकुट-मणियाँ तो उन आत्माराम महात्माओं के पादपीठ पर सदा झिलमिलाया करती हैं। वेही स्वर्गराज्य के युवराज हैं, परमानन्द के उत्तराधिकारी हैं।

मनोराज्य सदा सर्वथा स्वतन्त्र है। यहाँकी व्यवस्था, यहाँका क़ानून, यहाँका प्रबन्ध अपूर्व, अद्भुत और अनुपम है। यहाँकी प्रजा ईति-भीति से दुखी नहीं रहती। उसे कोई जीत नहीं सकता। यह राज्य संतों को छोड़ और किसे मिला ? जो इस राज्य में पैर रखता है, उसकी दृष्टि में संसार के समस्त रस नीरस पड़ जाते हैं। कुबेरभी उसे रंक जँचता है। वह दीन और दुनिया दोनों की परवाह न कर मस्त घूमा करता है। कभी हँसता है, तो कभी रोता है। कभी दौड़ता है, तो कभी नाचता है। बकता तो है अंट-संट; पर समझता है कि मैं बड़े-बड़े फिलासफरों के भी कान काट रहा हूँ !

इस राज्य के ऐश्वर्य में प्रमत्त कतिपय रसिकों की कामनाएँ, उन्हींके शब्दों में, सुनिए। सबसे पहले रसखानि को लीजिए--

मानुष हौं तो वही रसखानि, बसौं मिलि गोकुल-गोप-गुवारन।
जो पसु हौं तो कहा बसु मेरो, चरौं नित नंद की धेनु-मँझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरि कौ, जु धर्यौ कर छत्र पुरन्दर-धारन।
जो खग हौं तो बसेरौ करौं नित कालिन्दी-कूल-कदंब की डारन॥

हज़रत पत्थरभी होने में अपना अहोभाग्य समझते हैं ! कहाँ की अक़लमन्दी है यह ! रसखानि ! तुम्हारी ऐसी बे-सिर-पैर की बातें कोई पढ़ा-लिखा समझदार सुनले तो क्या कहेगा ? पर, तुम्हें उन समझदारों से कोई मतलब नहीं। कहनेवाले हो तो तुम, और सुननेवाले हो तो तुम। मन-मौजीही तो ठहरे ! गोसाईं तुलसीदास ने तो कदापि ऐसे समझदारों की परवा नहीं की। कहते हैं--

धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जोलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब, काहू की जाति बिगार न सोऊ॥
'तुलसी' सरनाम गुलाम है राम कौ, जाको जँचै सो कहै कछु ओऊ।
माँगिकै खैबो, मसीत को सोइबो, लेबो को एक न देबे को दोऊ॥

रसखानि की सारीही इच्छाएँ पूरी हुईं, हृदय-हीन विश्वास करें या न करें। उन्हें कौन समझाने जाये ? हृदय और मस्तिष्क में भारी अन्तर है। जिसका सरस हृदय होगा, वही इस घर की परिपाटी समझेगा। रसखानि ने ज्ञान प्राप्तकर ब्रह्मोपासना नहीं की। उन्होंने तो केवल अपने प्यारे से प्रीति की, प्रेम से नाता जोड़ा। मन में जो जब आया, अपने उसी हृदयेश्वर को सुना दिया। उसने भी अपने रसिक मित्र की मित्रता खूब निबाही। राधाचरण गोस्वामी लिखते हैं--

दिल्लीनगर-निवास, बादसा-बंस-बिभाकर।
चित्र देखि मन हरो, भरो पन-प्रेम-सुधाकर।
श्रीगोवर्द्धन आय जबै दर्शन नहिं पाये॥
टेढ़े-मेढ़े बचन रचन निर्भय ह्वै गाये॥

तब आप आय सुमनाय की सुश्रूषा मेहमान की।
कवि कौन मिताई कहि सकै, श्रीनाथ-साथ रसखान की।।

देखें, रसखानि का वह प्रेम-परत्त्व—

मोहन छबि 'रसखानि' लखि, अब दृग अपनै नाहिं।
ऐंचे आवतु धनुष-से, छूटे सर-से जाहिं।।
मो मन-मानिक लै गयौ, चितै चोरि नँदनंद।
कहा करूँ बेमन अरी ! परी फेर के फंद।।

रसखानि का दृढ़विश्वास तो यह था—

देस-विदेस के देखे नरेसन रीझिकै कोऊ न बूझ करैगो।
तातें तिन्हें तजि जान गिर्‌यौ गुन सो गुन औगुन गाँठि परैगो।।
बाँसुरीवारो बड़ो रिझवार है स्याम जो नैकु सुढार ढरैगो।
लाड़लो छैल वही तौ अहीर कौ पीर हमारे हिये की हरैगो।।

एक मुसलमान महिला, जिसका नाम ताज था, नन्द के फरज़न्द के प्रेम-फन्द में फँसकर, देखिए, क्या कामना कर रही है—

सुनौ दिलजानी, मेरे दिल की कहानी, तुम
इस्म ही बिकानी, बदनामी भी सहूँगी मैं।
देवपूजा ठानी औ निमाज हूँ भुलानी,
तजे कलमा कुरान, सारे गुननि गहूँगी मैं।।
साँवला सलौना सिरताज सिर क़ुल्लेदार !
तेरे नेह-दाघ में निदाघ ज्यों दहूँगी मैं।
नन्द के कुमार, कुरबान तेरी सूरत पै,
हौं तौ मुगलानी, हिन्दुवानी ह्वै रहूँगी मैं।।

भक्त-सिरताज ताज इस राज में पैर रखतेही मुगलानी से हिन्दुवानी हो जाने को तैयार हो गयी ! क्या हिन्दूधर्म और क्या इस्लाम, जहाँ कहीं से भी प्यारे की झलक मिले, वही अपना दीन है, वही अपना मज़हब है। अपने काम के अटके क्या-क्या नहीं करना पड़ता ?

आवै यही जिय में अब तौ, सजनी, चलु सौतिहु के घर जैये।
मान घटै तौ घटै पै कहा, जुपै प्रानपियारे कों देखन पैये॥

प्रेमोन्मत्त, असल में, किसीभी मज़हब के क़ायल नहीं—

मेरी मिल्लत है मुहब्बत, मेरा मज़हब इश्क़ है।
ख़ाह हूँ मैं काफ़िरों में ख़ाह दींदारों में हूँ॥

—ज़फ़र

बुतपरस्ती को तो इस्लाम नहीं कहते हैं;
मातक़िद कौन है 'मीर' ऐसी मुसलमानी का?

—मीर

जब से उस शोख़ के फन्दे में फँसे, टूट गये—
जितने थे मज़हबो मिल्लत के जहाँ में बंधन॥

—नज़ीर

सच बात तो यह है कि उस अलौकिक रस का ज़रा-सा भी चसका लग जाने पर त्रिलोक की भी सम्पदा धूल-सी प्रतीत होती है। जाति-पाँति का बखेड़ा, ऊँच-नीच का विचार, धन-जन की ऐंठ, न जाने, कहाँ चली जाती है। जिस प्रकार ज्वर में मुहँ का स्वाद बिगड़ जाता है, उसी प्रकार सारे भोग-विलास नीरस जान पड़ते हैं। चित्त अधीर हो जाता है। मन चाहता है कि कब मीन बन उस अगाध रस-सागर में लीन रहूँ, कब चकोर हो प्रियतम के मुखचन्द्र की ओर टक लगाये देखता रहूँ। कृष्णगढ़ाधीश महाराजा नागरीदास को किस सांसारिक सुख की कमी थी? सब कुछ था, पर एक मौज नहीं थी। राज-पाट से बेतरह घबराकर कहा करते थे—

कहा भयौ नृपहूँ भये, ढोवत जग-बेगार।
लेत न सुख हरिभगति कौ, सकल सुखन कौ सार॥
जहाँ कलह तहँ सुख नहीं, कलह सुखन कौ सूल।
सबहि कलह इक राज में, राज कलह कौ मूल॥
हौं नित या मन मूढ़ तें, डरत रहत हौं हाय।
कृष्णचन्द्र की ओर तें, मति कबहूँ फिरि जाय॥

बस, ज्योंही नागरीदास का मन इस नक़ली राज्य से ऊबा, उन्हें वह असली राज्य प्राप्त हो गया। उस राज्य में उन्हें क्या मिला, वे क्या से क्या हो गये, यह भारतेन्दुजी के शब्दों में सुनिए—

बल्लभ-पथहिं दृढ़ाय कृष्णगढ़-राजहिं छोड़्यौ।
धन-जन-मान-कुटुम्बहिं बाधक लखि मुख मोड़्यौ।।
केवल-अनुभव-सिद्ध गुप्तरस-चरित बखानैं।
हिय संयोग-उच्छलित और सपनेहुँ नहिं जानैं।।
करि कुटी रमनरेती बसत, संपति-भक्ति-कुबेर भे।
हरि-प्रेम-माल-रस-जाल के नागरिदास सुमेर भे।।

विक्षिप्त नागरीदास शान्ति-लाभ ले स्वयं कह उठे—

राज-कलह के मूल कौ विषअमल छुड़ायौ।
'नागरिया' वृन्दा-बिपिन रस-अमरित प्यायौ।।

एक प्रेमातुरा गोपिका की भी मनोभावना देखिए—

होइ रहै मन यौं 'मतिराम', कहूँ बन जाइ बड़ो तप कीजै।
ह्वै बनमाल हियें लगिये, अरु ह्वै मुरली अधरा-रसु लीजै।।

'बनमाल' होकर प्यारे के हृदय से लगने और 'मुरली' होकर उसका अधरामृत पीने में कितनी उत्कण्ठा है—कोई अन्दाज़ा लगा सकता है? जिस मुरली से इतना द्वेष प्रकट किया गया था कि—

भावतो मोहि मेरो 'रसखानि' सो तेरे कहे सब स्वाँग करौंगी।
या मुरली मुरलीधर की अधरान-धरी अधरा न धरौंगी।।

आज प्रेमाधीरता-वश, उसीका रूप हो जाने के लिए, यह उद्‌गार निकल रहा है कि--

ह्वै मुरली अधरा-रसु लीजै!

जिसनेभी इस अलौकिक मनोराज्य में पदार्पण किया, उसे अवश्यमेव यह अलौकिक सुधा चखने को मिली।

लखनऊ के रईस साहु कुन्दनलालभी एक ऊँचे मनमौजी थे। सम्बन्ध-

नाम इनका ललितकिशोरी था। इन्होंने अपना सारा बादशाही वैभव तृणवत् त्याग दिया था। सच्चे आशिक़ थे। प्रेमोन्मत्त हो आप कैसी-कैसी कामनाएँ कर रहे हैं—

कदँब-कुञ्ज ह्वैहौं कबै, श्रीवृन्दाबन माहँ।
'ललितकिसोरी' लाड़िले बिहरैंगे तिहि छाहँ॥
कब हौं सेवा-कुञ्ज में, ह्वैहौं स्याम तमाल।
लतिका कर गहि बिरमिहैं ललित लड़ैती लाल॥
सुमन-बाटिका-बिपिन में, ह्वैहौं कब मैं फूल।
कोमल कर दोउ भावते, धरिहैं बीनि दुकूल॥
कब कालीदह-कूल की, ह्वैहौं त्रिबिध समीर।
जुगल अंग-अँग लागिहै, उड़िहै नूतन चीर॥
मिलिहै कब अँग छार ह्वै, श्री-बन-बीथिन-धूर।
परिहैं पद-पंकज बिमल मेरी जीवनमूर॥
कब गहबर-बन-गलिन में, फिरिहौं होय चकोर।
जुगलचन्द्र-मुख निरखिहौं, नागरि नवलकिसोर॥
कब कालिन्दी-कूल की, ह्वैहौं तरुवर-डार।
'ललितकिसोरी' लाड़िले, झूलैं झूला डार॥

प्रेमोन्मत्त कवि प्रकृति के अणु-परमाणु के साथ तदाकार होकर अपने प्रियतम की किस ऊँची भावुकता से आराधना कर रहा है! कौन कहता है कि हमारे कवियों ने प्रकृति की अवहेलना की है? पाश्चात्य कवियों की भाँति कोरा प्रकृति-पर्य्यवेक्षण उनके रस-मग्न नेत्रों में नहीं समाया। वे लोग अपने अनूठे आदर्श को प्रकृति में ओतप्रोत समझते थे। उनकी दृष्टि में नीलाम्बुद था श्यामसुन्दर का कलित कलेवर, पूर्णचन्द्र था उनका मुख और प्रफुल्लित पंकज थे उनके रस-स्निग्ध नेत्र। प्रेमोपासकों ने प्रकृति को चैतन्यमूर्ति ही सदा समझा है। वे धूल, पवन, वृक्ष, लता-पता, फूल-फल, चकोर-मोर आदि सभी बनने को तैयार हैं, बशर्तें कि वे प्रियतम के मिलन में सहायक हों।

ग्रौर सुनिए—

जमुनापुलिन-कुञ्ज गहवर की
कोकिल ह्वै द्रुम कूक मचाऊँ।
पदपंकज प्रिय लाल मधुप ह्वै
मधुरे-मधुरे गुञ्ज सुनाऊँ॥
कूकर ह्वै बन-बीथिन डोलौं,
बचे सीथ संतन के पाऊँ।
'ललितकिसोरी' ग्रास यही मम
ब्रज-रज तजि छिन ग्रनत न जाऊँ॥

ग्राशा हो तो ऐसी, नहीं तो "नैराश्यं परमं सुखम्" ही ग्रच्छा। यह न समझ लिया जाये कि यह शुभाशा कभी पूरी नहीं होगी। ऐसा होता तो कौन ग्राँख का ग्रन्धा ग्रपने ग्रमोल मन-मानिक को बेचकर समझदारों के सामने बेवकूफ़ बनता? इस मनोराज्य में जिसनेभी जैसी कामना की, तुरन्त पूरी हुई। प्रमाण भारतेन्दु स्वयं ग्रपना देते हैं—

इतवार न हो तो देख न ले, क्या हरीचन्द का हाल हुग्रा?
पी प्रेम-पियाला भर-भरकर, टुक इस मय का भी देख मज़ा॥

इस प्रेमासव का एकही घूंट पीकर, देखो, क्या होता है! प्रेमोन्मत्त हो शायद तुमभी सुकवि हठी के साथ ग्रपना स्वर मिलादो—

गिरि कीजै गोधन, मयूर नव कुञ्जन कौ,
पसु कीजै महाराज, नन्द के बगर कौ।
नर कीजै तौन, जौन राधे-राधे नाम रटै,
तरु कीजै वर कूल कालिन्दी-कगर कौ॥
इतनै पै जोई कछु 'कीजिए कुँवर कान्ह,
राखियै न ग्रान फेर 'हठी' के झगर कौ।
गोपी-पद-पंकज-पराग कीजै महाराज!
तृन कीजै रावरेई गोकुलनगर कौ॥

ग्रनन्य रसिक हरिराम व्यासभी कुछ ऐसा ही राग ग्रलाप रहे हैं—

ऐसो कब करिहौ मन मेरो।
कर करवा, हरवा गुञ्जन कौ, कुञ्जन माँहि बसेरौ।
ब्रजबासिन के टूक जूँठ, अरु घर-घर छाँछ-महेरौ॥
भूख लगै तब माँगि खाउँगो, गिनौं न साँझ सबेरौ।
इतनी आस 'व्यास' की पुजिए, मेरे गाम न खेरौ॥

अब गाँव-खेड़े का क्या करोगे, महाराज! संसारभर की ज़मींदारी तो दाब बैठे! न माधो का लेना, न ऊधो का देना!

पूर्णकाम व्यास तभी तो निश्चिन्त होकर कहते हैं—

काहू के बल भजन कौ, काहू के आचार।
'व्यास' भरोसे स्याम के, सोवत पाँउ पसार॥

खूब सुख की गहरी नींद सोइए। चिन्ताही किस बात की? सारी गृहस्थी का भार तो भगवान् के सिर पर रख दिया है—

कहु 'रहीम' का करि सकैं, ज्वारी, चोर, लबार।
जाकौ राखनहार है, माखन-चाखनहार॥

जब चौर-शिरोमणि ही चौकसी कर रहा हो, तब छोटे-मोटे चोरों का क्या भय?

चिन्ता-सर्पिणी के विषम विष से कोई बचा है, तो प्रेमोन्मत्त भगवद्भक्तही। प्रेम के आनन्द में उन्मत्त फकीर का खाका कविवर नज़ीर ने क्या खूब खींचा है! देखिए—

जिस सिम्त नजर कर देखें हैं उस दिलवर की फुलवारी है।
कहीं सब्जी की हरियाली है, कहीं फूलों की गुलकारी है॥
दिनरात मगन खुश बैठे हैं औ' आस उसीकी भारी है।
बस आपही वह दातारी है, औ' आपही वह भंडारी है॥
हर आन हँसी, हर आन खुशी, हर वक्त अमीरी है, बाबा!
जब आशिक़ मस्त फ़कीर हुए फिर क्या दिलगीरी है, बाबा!

मनोराज्य की सीमा पर पैर रखना हर किसीके वश का नहीं। मन-माखन-चोर कृष्ण से पहरा दिलाना आसान नहीं। यह परमसुख, यह महा-रस बड़े भाग्य से मिलता है। बिना संत-स्वभाव प्राप्त किये ऐसा सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र मनोराज्य कहाँ ? एक बार एकवृत्त चित्त से इस गहरी भावना पर तो ध्यान दीजिए––

कबहुँक हौं इहि रहनि रहौंगो ?
श्रीरघुनाथकृपालु-कृपा तें संत-सुभाव गहौंगो।
जथालाभ संतोष सदा, काहू सौं कछु न चहौंगो।
परहित-निरत निरंतर मन-क्रम-बचन-नेम निबहौंगो॥
परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि, तेहि पावक न दहौंगो।
बिगतमान, सम सीतल मन, पर-गुन, औगुन न कहौंगो॥
परिहरि देहजनित चिंता, दुख-सुख समबुद्धि सहौंगो।
'तुलसिदास' प्रभु इहि पथ रहि अविचल हरिभक्ति लहौंगो॥

इस भावना के साथ-ही-साथ यहभी मानना होता है––

जेहि-जेहि जोनि करमबस भ्रमहीं।
तहँ-तहँ ईसु देहु यह हमहीं॥
सेवक हम, स्वामी सियनाहू।
होउ नात इहि ओर निबाहू॥

इसी प्रकार के कुछ औरभी नाते गोसाईंजी स्थापित कर रहे हैं। एक पद में कहते हैं––

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुंज-हारी॥
नाथ, तू, अनाथ कौ, अनाथ कौन मोसो ?
मो-समान आरत नहिं, आरतिहर तोसो॥
ब्रह्म तू, हौं जीव, तू है ठाकुर, हौं चेरौ।
तात, मात, गुरु, सखा तू सब बिधि हितु मेरो॥

तोहिं मोहिं नाते अनेक मानिये जो भावै।
ज्यों-त्यों 'तुलसी' कृपालु ! चरन-सरन पावै॥

नाते येही सच्चे हैं, और सब झूठे। एक बार इस सम्बन्ध-रस का सुख मिला कि फिर छोड़ा नहीं जाता। यही अनुभूत होता है कि जो सुख का निचोड़ था, वह पा लिया, जो जीवन का सार था, वह मिल गया, जो लक्ष्य था, वह वेध लिया। इस अवस्था में आने से सारा रंग-ढंगही बदल जाता है। नयी-नयी भावनाएँ उठती हैं। इस आनन्द-सागर से क्षणमात्रभी बाहर निकलना प्राणान्त दुःख-सा जान पड़ता है। सदा यही धुन सवार रहती है—

पान चरनामृत कौ, गान गुन-गानन कौ,
हरिकथा-सुनें सदा हिये कौ हुलसिबो।
प्रभु के उतारन की गूदरी औ चीरन की,
भाल भुज कंठ उर छापन कौ लसिबो॥
'सेनापति' चाहत है सकल जनम भरि,
वृन्दावन-सीमा तें न बाहर निकसिबो॥
राधामनरञ्जन की सोभा नैनकञ्जन की,
माल गरे गुञ्जन की, कुञ्जन कौ बसिबो॥

महाभाग बालि की, अन्तिम कामना क्या थी, उसे सुनिए—

अब नाथ, करि करुना बिलोकहु, देहु जो बर माँगऊँ।
जेहि जोनि जनमहुँ करमबस, तहँ राम-पद अनुरागऊँ॥

प्राण-प्रयाण के समय की एक और मनोवाञ्छा सुनाई दे रही है। अहा !!

कदँब की छाँह हो, जमुना का तट हो।
अधर मुरली हो, माथे पर मुकुट हो॥
खड़े हों आप इक बाँकी अदा से।
मुकुट झोंके में हो, मौजे हवा से॥
गिरै गरदन ढुलककर पीत पट पर।
खुली रह जायँ आँखें या मुकुट पर॥

दुशाले की एवज हो ब्रज की वह धूल।
पड़ैं उतरे हुए सिङ्गार के वे फूल॥
मिले जलने को लकड़ी ब्रज के बन की।
छिड़क दी जाय धूली या सदन की॥
अगर इस तौर हो अंजाम मेरा।
तुम्हारा नाम हो, और काम मेरा॥

इस परमभक्त की यह मनोभावना कोई बिरलेही अनुभव कर सकेंगे। "गिरै गर्दन ढुलककर पीतपट पर; खुली रह जायँ आँखें या मुकुट पर" इन पंक्तियों को, भक्त ने गहरी भावना की मंजु मसि से, अङ्कित किया है, खूने-जिगर से लिखा है। अन्त में कहता है, अगर इस तरह मेरा अंजाम (मृत्यु) हो, तो मेरी तो बनही जायगी, साहब! तुम्हाराभी जगत् में नाम हो जायगा!

देखा जाय तो एक तरह से सभी अपने-अपने मन के लड्डू खा रहे हैं। कोई धन में मस्त है, तो कोई जन में; कोई यौवन में, तो कोई भोग-विलास में; कोई विद्या में, तो कोई वाद-विवाद में; कोई ऐश्वर्य में, तो कोई अधिकार में। पर यह सारी ही मस्तियाँ क्षणिक हैं,नापायदार हैं। सच्ची मस्ती,सच्चा मनोराज्य तो एक आत्मानन्द में ही है; तदीय होने में ही है। खूब कहा किसी खुदमस्त ने—

कोई अक़ल-मस्त, कोई शकल-मस्त, कोई चंचलताई हाँसी में।
कोई वेद-मस्त, कोई तीर्थ-मस्त, कोई मक्के में कोई काशी में॥
कोई नाम-मस्त, कोई धाम-मस्त, कोई सेवक में कोई दासी में।
इक खुदमस्ती बिन और मस्त सब फँसे अविद्या-फाँसी में॥

खुदमस्ती में मस्त होकर जिस अगाध-सिंधु के तुम विन्दु हो, उसीमें जाकर मिल जाओ—

दुनिया से 'ज़ौक़' रिश्तये उल्फत को तोड़दे।
जिस सर का है यह बाल, उसी सर में जोड़दे॥

अध्यात्म और भक्तियोग

बिन्दु में सिन्धु समान, को कासों अचरजु कहै ?
हेरनहार हिरान, 'रहिमन' आपुहि आपुमें !

एक बूँद में साराही समन्दर समा गया ! खोजते-खोजते खोजनेवाला खुदही खो गया ! और, खोयाभी कहाँ ? अपने आपमें ही ! क्या खूब ! पहेली हो तो ऐसी !

बूँद जीव है, और सिन्धु ईश्वर। जीव में ईश्वर विद्यमान। पिंड में ब्रह्माण्ड ! गागर में सागर ! सर्वव्यापक मुट्ठीभर हड्डियों में व्याप्त ! राम छोटी-सी मढ़ैया में रम रहा है। स्वसंवेद्य सर्वदृष्टा की समस्त लीला अन्तर्मुखी ! आँख सबको देखती है, पर आँख किससे देखी जाती है ?

जगत जनायो जिहिं सकलु, सो हरि जान्यौ नाहिं ॥
ज्यों आँखिनु सब देखियैं, आँखि न देखी जाहिं ॥

—बिहारी

रहीम का कहीं कुछ औरही तात्पर्य न हो। कवि का यथेष्ट भाव समझ लेना सहज नहीं। उलटाभी अर्थ घट सकता है। क्योंकि बिन्दु ईश्वर, और सिन्धु जीव या प्रकृति। बिन्दु से सर्ग हुआ, और उसीमें उत्सर्ग। मुक्त हो जाने पर जीव और प्रलय के उपरान्त प्रकृति का फिर अपने उसी निर्दिष्ट बिन्दु में लीन होनाभी तो दार्शनिकों का एक सिद्धान्त है। अपनेको

खोया और अपनेको पाया। अविद्या के फेर में पड़कर तो यह राग अलापना पड़ा कि—

अपुनपौ आपुनहीं बिसर्यौ।

और विद्या—आत्म-ज्ञान—के आलोक में यह दिव्य शब्द-चित्र अंकित हो गया—

आपुनपौ आपुनही में पायौ।
शब्दहिं शब्द भयौ उँजियारौ, सतगुरु भेद बतायौ॥
'सूरदास' समुझे की यह गति, मन-ही-मन मुसुकायौ।
कहि न जाय या सुख की महिमा, ज्यों गूँगो गुर खायौ॥

वही अवस्था है यह, जिसमें कि—

हेरनहार हिरान, 'रहिमन' आपुहि आपुमें।

'मीर' यों कहते हैं—

खुद गुम हुआ हूँ, बात की तह आप पा गया !

अवस्था यह केवल अनुभवगम्य है। मन एवं वाणी की यहाँ गति नहीं—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

तुलसीदास इस अनिर्वचनीयता को क्याही अनोखेपन से अङ्कित कर रहे हैं—

श्याम गौर किमि कहहुँ बखानी।
गिरा अनयन, नयन बिनुबानी॥

बेचारी वाणी की वहाँ कैसे रसाई हो सकेगी ? आँखवाली होती, तो वहाँ की तसवीर किसी तरह खिचभी जाती। उधर आँखेंभी लाचार हैं। देख तो सब कुछ लेंगी, पर कहेंगी क्या ? जीभ तो है ही नहीं ? एक अन्धी है; दूसरी गूँगी !

जो कुछ कहा था देखा जाता है, जो कुछ गोचर है वह सब इसी पार का है, उस पार का नहीं—

गो गोचर जहँलगि मन जाई।
सो सब माया जानेहु भाई॥

शाब्दिक परिभाषा यही है माया की। पर इतनाही कह देना पर्याप्त न होगा। श्रीमती माया का प्रताप ऐसा-वैसा नहीं है। एक प्रकार से यहभी अनिर्वाच्य ही हैं। किसीने इन्हें असत्य कहा है, तो किसीने सत्य। गृहस्थ-संन्यासी, ज्ञानी-ध्यानी, जपी-तपी, पंडित-अपंडित कोईभी इनकी मोहिनी से अछूता नहीं रहा। श्रीमतीजी ने त्रिगुणात्मिका रस्सी की नकेल ब्रह्मा-विष्णु-महेशतक की नाकों में डाल दी है। कबीर ने आपका स्तवन इस प्रकार किया है—

रमैया की दुलहिन लूटा बजार।
सुरपुर लूट, नागपुर लूटा, तीन लोक मचि हाहाकार॥
ब्रह्मा लूट, महादेव लूटे, नारद मुनि कै परी पछार।
शृंगी की मिंगी करि डारी, पारासर के उदर बिदार॥
कनफूँका चिरकासी लूटे, लूटे जोगेसुर करत बिचार।
हम तौ बचिगे साहब-दया से, शब्द-डोर गहि उतरे पार॥
कहत कबीर, सुनो भाई साधो, इहिठगनी से रहौ हुसियार॥

विचार यह करना है कि यह जग 'काचो काँच-सौ' है अथवा 'सचाई-सार'। दार्शनिकों ने मायावाद, विवर्त्तवाद एवं अध्यासवाद से संसार को मिथ्या माना है। एक वाद कविवर बिहारी ने भी उपस्थित किया है, जिसे 'प्रतिविम्बवाद' कहना चाहिए—

मैं समुझ्यौ निरधार, यह जग काचो काँच-सौ।
एकै रूप अपार, प्रतिबिम्बित लखियतु जहाँ॥

सिद्ध हो चुका है कि यह कच्चा जगत् काँच के समान नाशवान् है। इसमें, जहाँ देखो तहाँ, एकही ब्रह्म अनंत रूपों में प्रतिविम्बित हो रहा है। हर घड़े में एकही सूर्य की परछाईं पड़ रही है। घट-घट में एकही राम रम रहा है—

अग्निर्यथैकोभुवनं प्रविष्टो, रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव;
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपंरूपं प्रतिरूपो बहिश्च।

माना कि यह संसार काँच-सा कच्चा है, पर दिखायी तो सच्चा-सा ही

देता है। प्रतीति होनी कठिन है। साँचेका-सा ढला हुआ है न !

सुनार मोम के तो 'साँचे' बनाता है, पर कहता है कि ये साँचे हैं, सच्चे हैं। सच्चा तो कुछ और ही है—

साँचे श्रीराधारमण, झूठो सब संसार।
बाजीगर कौ पेखनो, मिटत न लागै बार।।
मिटत न लागै बार, भूत की सम्पति जैसे।
मिहरी,नाती,पूत, धुआँ के धौहर-तैसे।।
'भगवत'ते नर अधम लोभबस घर-घर नाचे।
झूठे गढ़ै सुनार मोम के बोलैं साँचे।।

मायावादियों ने अनेक युक्तियाँ उपस्थित की हैं। पग-पग पर उनको भ्रम हो रहा है। सीप में रजत, जेवरी में साँप एवं ब्रह्म में जगत् का भास हो जाना उनके लिए नित्य का रोना है। मृग-जल, गन्धर्व-नगर और धुवाँ के धौरहरे भी न जाने कब से चले आ रहे हैं। पर है यह सब पिष्टपेषण, चर्वित चर्वण। माना कि जगत् मिथ्याही है। पर क्या उसके मिथ्यात्व में ही उसका आदि, मध्य और अवसान है ? 'काचो काँच-सौ जगत्' 'सचाई-सार'सिद्ध नहीं किया जा सकता क्या? यह सत्य-सार—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'रटने से प्रत्यक्ष न हो सकेगा। जगज्जाल से छुटकारा पा जाना वेद-वेदान्त के अगाध अनुशीलन द्वारा संभव नहीं। ज्ञान-योग और कर्मयोग का भी सामर्थ्य नहीं कि वे हमें इस 'वदनहीन तनु ग्रसै चराचर'-जैसे कराल काल के गाल से निकाल सकें। तब तो भारी आफत है। तो क्या मुक्तिभी 'खपुष्पवत्' है ? सो तो नहीं, पर दुरूह अवश्य है। हाँ, एक मार्ग खासा सुलभ, है और वह है सप्रेम सत्सङ्ग। सत्सङ्ग के महत्त्व पर सहस्रों सूक्तियाँ मिलती हैं, जो अनेक संत-महात्माओं के श्रीमुख से प्रकट हुई हैं। पर एक सूक्ति जिसे शृङ्गारी कवि बिहारी ने शृंगार का लिवास पहनाकर खड़ा किया है, सचमुच बड़े मार्के की है। वह यह है—

अजौं तर्‌यौ ना ही रह्यौ, श्रुति सेवत इक अंग।
नाक-बास बेसरि लह्यौ, बसि मुकुतन के संग।।

यहाँ 'तर्यौना', 'श्रुति', नाक-बास', 'बेसरि' और 'मुकुतन' ये पाँचों पद श्लिष्ट हैं।

बेसर-पक्ष का अर्थ यह होगा——

"आजतक तर्यौना अर्थात् कर्ण-फूल एक रीति से कानों की सेवा करता हुआ तर्यौ ना ही रहा, नीचे को ही लटकता रहा। और बेसर ने मोतियों के संग से नासिका का वास प्राप्त कर लिया, उच्चस्थान पा लिया।"

अब सत्संग-पक्ष का अर्थ देखिए—

"एक रीति से श्रुति (वेद) का सेवन करता हुआ तू आजतक भी न तरा, डूबाही रहा। देख, अधम-से-भी-अधम जीव ने मुक्तों (जीवनमुक्त महात्माओं) के संग में बसकर स्वर्ग का निवास प्राप्त कर लिया।"

सच है——

सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस परसि कुधातु सुहाई॥
धूमउँ तजे सहज करुआई। अगर प्रसंग सुगंध बसाई॥

——तुलसी

× × × ×

संसार की भूल-भुलैयों से इतना डरा क्यों जाये? मुक्त हो जाने पर कौन-सी कुबेर की सम्पदा मिल जायगी? संसार को माया-मय न मानकर माधव-मय क्यों न माना जाये? जहाँ अद्वैतवादियों का 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' भी विविध अवतार धारणकर ललित लीलाएँ रचता है, वहाँ जगत् असत्य या असार कैसे कहा जा सकता है? नारायण को ढूँढ़ना है, तो यहीं ढूँढ़िए न——

तुलसी या जग आइकैं, सबसौं मिलियै धाय।
ना जानैं किहि रूप में, नारायण मिलि जाय॥

कौन कहता है कि संसार दुःखमय है? यह तो पुरुष और प्रकृति——के राधा और कृष्ण——की विहार-भूमि है। कविवर शंकर 'पुरुष-प्रकृति' नित्य रमण का इस प्रकार निरूपण कर रहे हैं——

शंकर अखंड एक अक्षर की एकता ने,
स्वाभाविक साधन अनेकता का साधा है।
तारतम्यता के साथ विश्व की बनावट में,
पोल और ठोस का प्रयोग आधा-आधा है ।।
नामरूप ज्ञान से, क्रिया की कर्म-कल्पना से,
नित्य निरुपाधि चिदानन्द में न वाधा है।
सामाधिक धारणा में ऐसा ध्रुव ध्यान है तो,
पुरुष मुकुन्द है प्रकृति प्यारी वाधा है ।।

तब प्रकृति-पुरुष——राधा-मुकुन्द——की लीला-भूमि में मिथ्यात्व और दुःख कैसा ? सुख और दुःख, पाप और पुण्य, स्वर्ग और नरक, बंधन और मोक्ष एकही वस्तु के दो बाजू हैं। न कोई ज्ञानी है, न कोई मूढ़। जो है, सो है। हम लोगों के खेलने के लिए जगतपिता ने ये सारे खिलौने रच दिये हैं। जी बहलाने के लिए कुछ-न-कुछ चाहिए न——दुःखही सही——

तुम बिनु एती को करै, कृपा जु मेरे नाथ !
मोहि अकेलो जानिकैं, दुख राख्यौ दै साथ ।।

प्रेमोन्मत्तभी एकही अद्वैतवादी है। उसकी दृष्टि में दिन, दिन नहीं; रात, रात नहीं; बंधन, बंधन नहीं; मोक्ष, मोक्ष नहीं। दुःख और सुख में वह कोई भेद नहीं देखता। इन सारे द्वन्द्वों को वह नारायणीय लीला समझता है। उसके लिए जीवन और मरण दोनों समानार्थक हैं, एकही वस्तु के दो भिन्न-भिन्न नाम हैं। उसके लिए जो मर्ज़ है, वही हकीम है और वही दवाभी—

वहई रोग निदान, वहै वैद, औषधि वहै ।।

——बिहारी

जिसपर क़ुर्बान हो रहे हैं उसीको देख-देखकर जीतेभी हैं—

मुहब्बत में नहीं है फ़र्क जीने और मरने का,
उसीको देखकर जीते हैं, जिस काफ़िर पै दम निकले।

—ग़ालिब

अब कहाँ गया तुम्हारा असत् और सत् ? क्यों बेकार दर्शन-शास्त्रों के जाल में फँसे हो ? दर्शन-दर्शन चिल्लाने से होगा क्या ? दर्शन की बदौलत अपने प्यारे का दर्शन न मिला, तो छोड़ो ऐसा दर्शन ! मुक्त होने पर प्रियतम की झलक न पायी, तो ऐसी मुक्ति से लाभ क्या !

दुख औ सुख, पाप औ पुन्य दुऔ,
रस, रोसु, को रोवतु गावतु है !
गुन औगुन, नेकी बदी, हितू बैरि,
सुधा बिषु एक-सो भावतु है ।।
कवि 'बोधा' अनादर आदर ऊपर,
तें जिय तौ सुख पावतु है ।
दिलदार सों जौलों न भेंट भई,
तबलों तरिबो का कहावतु है ?

दिलदार से भेंट हुई कि सच और झूठ दोनों से ही बेड़ा पार हो गया ।

चिन्ता करनी व्यर्थ है । जो बोया वह काटनाही होगा । केवल अपने पुरुषार्थ से कर्म की रेख मिटा देनेवाला कोई शूरवीर अद्यपर्यन्त पैदा नहीं हुआ । बिना भोगे कर्म से छुटकारा पा जाना सम्भव नहीं——

नाभुक्ते क्षीयते कर्म, कल्पकोटिशतैरपि ।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ।।

अर्थात्,

कर्म प्रधान विश्व करि राखा ।
जो जस करहि सो तस फल चाखा ।।

जब ऐसाही है, तो आकाश-पाताल को क्यों एक किये डालते हो ?

होइहै वही जो राम रचि राखा ।
को करि तर्क बढ़ावहि साखा ।।

पर, इससे यह न समझा जाये कि गोसाईं तुलसीदास हाथ-पर-हाथ धरकर बैठ रहने का उपदेश दे रहे हैं ! नहीं, ऐसा नहीं । कर्म करो, निरन्तर करो । निरलस होकर करो । कर्म में ही तुम्हारा अधिकार है, फलेच्छा में

नहीं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

पर सदा अनासक्त रहो। कर्म करते हुए भी अपनेको कर्त्ता न मानो। कर्त्ता तो कोई दूसरा ही है। वही नियन्ता है। वही प्रेरक है। वही अखिल ब्रह्माण्ड का सूत्रधार है—

उमा, दारु-जोषित की नाईं।
सबै नचावत राम गुसाईं॥

गीता का भी साक्ष्य—

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।

बिहारी की भी सूक्ति सुनिए—

उड़ी जाहु कितहूँ गुड़ी, तऊ उड़ायक हाथ।

और अशर्फियों में मेरीभी एक कौड़ी—

हम तौ तेरे ही बस साईं।
सुख-दुख, हानि-लाभ तेरे कर रहत चंग की नाईं॥
जैसी बहति बात तैसेइ तृन उड़त संग बरियाईं।
चलत तिहारे ही 'हरि' पीछे ह्वै तेरी परछाईं॥

माया ऐसी प्रबल है! उससे कैसे छूटें? गीता में तो उपाय यह बतलाया गया है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

सारांश यह कि बिना हरि-कृपा के—जो अनन्यभक्ति से ही प्राप्त हो सकती है—माया-बन्धनों से मुक्त होना दुःसम्भव है।

हरि-कृपा का क्या कहना है! अपने भक्तों के निमित्त भगवान् क्या-क्या करने को तैयार नहीं रहते। युग-युग में केवल उनकेही लिए भगवान् को बार-बार इस संसार में अवतार लेना पड़ता है। पर कतिपय दार्शनिक तो अवतारवाद को मानतेही नहीं। हमें उनसे कोई सरोकार नहीं। हम तो इस भगवदुक्ति के भी क़ायल नहीं कि—

यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहं ॥

हम तो केवल इतना ही जानते हैं कि वह अपने बिछुड़े हुए भक्तों से भेंट करने के अर्थ ही अवतीर्ण हुआ करता है। हम अपने कर्मों के बल पर जब उसके द्वारतक न पहुँच सके, तब उसे स्वयमेव यहाँ आना पड़ा--

'अहमद' गति अवतार की कहत सबै संसार।
बिछुरे मानुष फिर मिलैं, यही हेतु अवतार॥

अवतारवाद पर यह क्याही अनूठी उक्ति है!

बस, जबतक वह हमसे मिलने नहीं आया, तबतक सच्चा सुख नहीं--

ना वह मिलै न मैं सुखी, कहु जीवन क्यों होय।
जिन मोकों घायल कियौ, मेरी दारू सोय॥

उससे मिलने के लिए जबतक दिल में दर्द पैदा नहीं हुआ तबतक मत-मतांतरों में ही चक्कर लगाने पड़ेंगे। उससे मिलने की राह तो कुछ निराली ही है। मिलन की चाह रखनेवाला योगी अलख जगा रहा है--

उसके कूचे में सदा मस्त रहा करते हैं।
वही बस्ती, वही नगरी, वही जंगल, वही बन॥
जबसे अस शोख़ के फन्दे में फँसे, टूट गये—
जितने थे मजहबोमिल्लत के जहाँ में बन्धन॥
नाम को पूछो तो है नाम हमारा आशिक़।
सबसे आजाद हुए यार का लेकर दामन॥
पंथ को पूछो तो जोगी न जनम के न अतीत।
इश्क के मेल में हम प्रेम का करते हैं बरन॥
गर रहें जीते तो जीने की नहीं फिक्र हमें।
और मर जायँ तो हरगिज नहीं परवाय कफ़न॥
जा पड़ें याद में उस शोख़ की जिस बस्ती में।
वही गोकुल है हमें और वही बृन्दाबन॥

--नज़ीर

बिना सच्ची लगन के दर्शन उसका दुर्लभ है, और बिना उसके दर्शन के मुक्ति-लाभभी स्वप्नवत् है।

शास्त्रीय वाद-विवादों के बखेड़े में पड़ना मुनासिब नहीं। वह तो शब्दाडम्बर है। जितनाही अधिक सुलझने की चेष्टा करेंगे, उतनाही उलझते जायँगे ! अन्त में यही कहना पड़ेगा—

केशव, कहि न जाइ का कहिये ?
देखत तव रचना विचित्र अति, समुझि मनहिं मन रहिये ॥

× × ×

कोउ कह सत्य, कोउ कह मिथ्या, युगल प्रबल कोउ मानैं।
तुलसिदास, परिहरै तीन भ्रम, सो आपुन पहिचानै ॥

अथवा--

तुलसी चित-चिंता न मिटै बिनु चिंतामणि पहिचानै।

सारे अध्यात्म का निचोड़ यही है कि जबतक आत्म-साक्षात्कार नहीं हुआ, तबतक यह सारा बकना-बकाना व्यर्थही है। कोरी करनी से काम न चलेगा।

किसकी शक्ति है, जो उस अव्यक्त ब्रह्म को शब्दों द्वारा व्यक्त कर सके ? कौन खींच सकता है उसकी तसवीर ? कविवर बिहारी ने क्या खूब कहा है--

लिखनि बैठ जाकी सबी, गहि-गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर ॥

है तो अत्यन्त कठिन, पर चित्र खींचा जा सकता है। तुलसीदास राम का चित्र सीता के हृदय में इस प्रकार अंकित करा रहे हैं--

परमप्रेममय मृदुमसि कीन्हीं।
चारु चित्त भीतर लिखि लीन्हीं ॥

जब अन्धे सूर को निराकार ब्रह्म का चित्र उतारने में कठिनाई अनुभव हुई, तब यह सिद्धान्त स्थिर किया--

सब बिधि मोंकों अगम अगोचर, 'सूर' सगुन-लीला-पद गावै ॥

प्रेम और विरह

कबीर साहेब की एक साखी है--

बिरह-अगिन तन मन जला, लागि रहा तत जीव।
कै वा जानै बिरहिनी, कै जिन भेंटा पीव॥

विरह की अग्नि से जब स्थूल और सूक्ष्म दोनोंही शरीर भस्मीभूत हो चुके, तब कहीं इस प्रेमविभोर जीव का उस परमप्रिय तत्व से तादात्म्य हुआ। इस विरहानल-दाह का आनन्द या तो विरहिणीही लूटती है या फिर वह सुहागिनी, जिसकी अपने वियुक्त प्रियतम से भेंट हो चुकी है। महात्मा कबीर की एक और साखी विरह-तत्व का समर्थन कर रही है--

विरहा कहै कबीर सों, तू जनि छाँड़ै मोहि।
पारब्रह्म के तेज में, तहाँ ले राखौं तोहिं॥

इसमें सन्देह नहीं कि आत्यन्तिक विरहासक्तिही प्रेम की सबसे ऊँची अवस्था है। प्रेम की परिपुष्टि विरह से ही होती है। विरह एक तरह का पुट है। बिना पुट के वस्त्र पर रंग नहीं चढ़ता। सूरदास ने क्या अच्छा कहा है—

ऊधो, बिरहा प्रेम करै।
ज्यों बिनु पुट पट गहै न रंगहिं, पुट गहै रसहि परै॥

जबतक घड़े ने अपना तन, अपना अहंकार नहीं जला डाला, तबतक कौन उसके अन्तर में सुधा-रस भरने आयगा? विरहाग्नि में जलकर शरीर मानो कुन्दन हो जाता है। मन का वासनात्मक मैल जलाकर उसे विरह ही निर्मल करता है--

बिरह-अगिनि जरि कुन्दन होई। निरमल तन पावै पै सोई॥

—उस्मान

बिना विरह के प्रेम की स्वतन्त्र सत्ता नहीं। इसी तरह बिना प्रेम के विरह का भी अस्तित्व नहीं है। जहाँ प्रेम है, वहाँ विरह है। प्रेम की आग को विरह-पवनही प्रज्वलित करता है। प्रेम के अंकुर को विरह-जलही बढ़ाता है। प्रेम-दीपक की बाती को यह विरहही उकसाता रहता है--

जहाँ प्रेम तहँ बिरहा जानहु। बिरह बात जनि लघु करि मानहु॥
जेहि तन प्रेम-आगि सुलगाई। बिरह-पौन होइ दे सुलगाई॥
प्रेम-सुअंकुर जहाँ सिर काढ़ा। बिरह-नीर सों छिन-छिन बाढ़ा॥
प्रेम-दीप-जहँ जोति दिखाई। बिरह देह छिन-छिन उसकाई॥

--उस्मान

इसीसे तो कहा गया है--

धन सो धन जेहि बिरह बियोगू। प्रीतम लागि तजै सुख-भोगू॥

—नूरमुहम्मद

विरह यदि ऐसा ही सुखदायी है, तो फिर विरही दिन-रात रोया क्यों

करता है ? यह न पूछो, भाई, विरह की वेदना मधुमयी होती है। उसमें रोनाभी रुचिकर प्रतीत होता है। अपने बिछुड़े हुए प्यारे का ध्यान आते-ही हृदय में एक ज्वाला उठती है, फिरभी वह विरही उसीका ध्यान करता रहता है ! प्रेम-रत्न के जौहरी जायसी को इस जलने-भुनने की गहरी जानकारी थी। उस विरहानुभवी प्रेम-साधक ने क्या अच्छा कहा है--

लागिउँ जरै, जरै जस भारू। फिरि-फिरि भूँजेसि, तजिउँ न बारू ॥

भाड़ की जलती बालू में अनाज का दाना डालकर कितनीही बार भूनो, वह बराबर उछलताही रहेगा, प्यारी बालू को छोड़कर बाहर न जायगा। विरह-दाह में वियुक्त प्रिय का ध्यान चन्दन और कपूर से भी अधिक शीतल लगता है। इसीसे उस दाह में दग्ध होने के लिए विरही प्रेमी का चित्त सदैव व्याकुल और अधीर रहा करता है--

जरत पतंग दीप में जैसे, औ फिरि-फिरि लपटात।

--सूरदास

विरह के रुदन को कोई क्या जाने ! मौलना रूम की रोती हुई बाँसुरी कहती है--"जिसका हृदय वियोग के मारे टुकड़े-टुकड़े न हो गया हो, वह मेरा अभिप्राय कैसे समझ सकता है ? अगर मेरी दरदभरी दास्ताँ सुननी है, तो पहले अपने दिल को किसी प्यारे के वियोग में टुकड़े-टुकड़े कर-दो, फिर मेरे पास आओ, तब मैं बताऊँगा कि मेरी क्या हालत है। मैंने अच्छे-बुरे सभीके पास जाकर अपना रोना रोया, पर किसीने भी ध्यान न दिया--सुना और सुनकर टाल दिया। जिन्होंने सुना पर ध्यान न दिया मैं उनको बहरा जानती हूँ, और जिन्होंने चिल्लाते देखा, पर न जाना कि क्यों चिल्ला रही है, मैंने समझ लिया कि वे अन्धे हैं। मेरे रोने के रहस्य को एक वही जान सकता है जो आत्मा की आवाज़ को सुनता तथा पहचानता है। वास्तव में, मेरा रुदन आत्मा के रुदन से जुदा नहीं है।"

तब विरही के रोने को आनन्ददायी क्यों न कहें ? धन्य है वह, जो प्रियतम के वियोग में इस बाँसुरी की तरह दिन-रात रोया करता है- -

धन सो धन जेहि बिरह-बियोगू। प्रीतम लागि तजे सुख भोगू ॥

युगों से कसक सो रही है। इसीसे जीवभी बेहोश पड़ा है और सुरत-भी सो रही है। कौन इन्हें जगाये ? द्वार पर खड़े प्यारे स्वामी से कौन इस जीव को मिलाये ? बस, विरह ही कसक को जगा सकता है और कसक जीव को जगा सकती है, और सुरत को जीव जगा लेगा। संतवर दादूदयाल कह गये हैं——

बिरह जगावै दरद को, पंच पुकारै पीव।
जीव जगावै सुरत को, पंच पुकारै पीव॥

ऐसी महिमा है महात्मा विरह-देवकी ! प्रिय-विरह निश्चयपूर्वक सुरत और जीव का सद्गुरु है। जिसने इस महामहिम से गुरु-मन्त्र ले लिया, उसका उसी क्षण प्रेम-देव से तादात्म्य हो गया। जिसने यह दुस्साध्य साधन साध लिया, उसे आत्म-साक्षात्कार हो गया। पर विरहात्मक प्रेम का साधक यहाँ मिलेगा कहाँ ? इस लेन-देन की दुनिया में उसका दर्शन दुर्लभ ही है। शायद ही लाख-करोड़ में कहीं एकाध सच्चा विरही देखने में आये। पहचानभी उसकी बड़ी कठिन है। उसका भेद पा लेना आसान नहीं। सन्त चरणदास ने विरह-साधना में मतवाली विरहिणी की क्याही तस्वीर खींची है—

गदगद बानी कंठ में, आँसू टपकैं नैन।
वह तो विरहिन राम की, तलफति है दिन-रैन॥
वह विरहिन बौरी भई, जानत ना कोइ भेद।
अगिन बरै, हियरा जरै, भये कलेजे छेद॥
जाप करै तो पीव का, ध्यान करै तो पीव।
जिव विरहिन का पीव है, पिव विरहिन का जीव॥

वह प्यारे राम की विरहिणी है। उस स्वामी के दीदार की ही उसे चाह है। वह एक प्यासी पपीही है। एक दरद-रंगीली दीवानी है। व्यथा कैसे कहै–गला भर आया है, आँखों से झरने झर रहे हैं। दिन-रात बेचारी तड़पतीही रहती है। अरे, वह तो पगली है, पगली। ऐसी पगली कि उसके पागलपने का भेदही आजतक किसीको नहीं मिला। उस दीवानी के दिल

में एक ग्राग बल रही है। जिस्म जल रहा है। कलेजे के ग्रन्दर छेद-ही-छेद हो गये हैं। जाप करती है, तो प्यारे का और ध्यान करती है तो प्यारे का। उस विरहिणी का जीव ग्राज उसका प्रियतम हो रहा है और उसका प्रियतम होगया है उसका जीव। जीव पर प्यारे की छाया पड़ रही है और प्यारे पर जीव की झाईं झलक रही है। जीव और पीव में कैसा ग़ज़ब का तादात्म्य हुआ है!

प्यारे का उसे दिखायी देना क्या था, उससे बिछुड़कर खुद उसे ग्रपने ग्रापसे भी जुदा कर देना था। मीर साहब ने क्या ग्रच्छा कहा है--

दिखाई दिये यूँ कि बेखुद किया,
हमें ग्रापसे भी जुदा कर चले!

खूब दिखाई दिये! ग्रपनी जुदाई के साथ-साथ बेखुदीभी हमें देते गये! ग्रच्छा हुग्रा, एक बला टली। ग्रपना एक मन था, वहभी हाथ से चला गया। मन से भी छुट्टी पा ली। ग्रब मनवाले उस बे-मनवाले की व्यथा जानने ग्राये है! पर क्या मोहित का मर्म मोहक समझ सकेगा? कभी नहीं--

कान्ह, परे बहुतायत में, इकलेन की बेदन जानौ कहा तुम?
हौ मनमोहन, मोहे कहूँ न, बिथा बिमनेन की मानौ कहा तुम?
बोरो बियोगिनि ग्राय सुजान ह्वै, हाय कछू उर ग्रानौ कहा तुम?
ग्रारतिवंत पपीहनकों घनग्रानंदजू! पहिचानौ कहा तुम?

हाँ, सचमुच उस बेदिल का भेद तुम्हें न मिलेगा। क्या हुग्रा जो तुम दिलदार हो। उस दीवाने ने तो हसरते दीदार पर ही ग्रपने दिल को न्यौछावर कर दिया है। ग्रब शायदही वह तुम्हारा दर्शन कर सके, क्योंकि वह बेचारा प्रेमी, दिल के न होने से, ग्राज ताक़ते दीदारभी खो चुका है--

दिल को नियाज़ हसरते दीदार कर चुके,
देखा तो इसमें ताक़ते दीदार भी नहीं!

उसकी इस भारी बेवकूफ़ी पर तुम्हें मन-ही-मन हँसी तो ज़रूर ग्राती

होगी, सरकार! पर ज़रा उस बेदिल की आँखों से देखो तो क्या नज़र आता है! वह पगला कहता है कि एक घड़ी तनिक अपने आपसे तो बिछुड़ देखो, आपही विरह का सारा राज़ खुल जायगा——

कैसौ संजोग बियोग धौं आहि, फिरौ 'घनआनँद' ह्वै मतवारे।
मो गति बूझि परै तबहीं, जब होहु घरी कहुँ आपतें न्यारे॥

बात वही है कि प्रिय से बिछुड़ना अपने आपसे बिछुड़ जाना है। और जिसने अपने आपसे बिछुड़ना नहीं जाना, वह विरह-रस का अधिकारीही नहीं। अरे भाई, हसरते दीदार पर अपनी खुदी को न्यौछावर कर देनेवाला ही तो यह कहने का साहस करेगा कि——

बिरह भुवंगम पैठिकै किया कलेजे घाव।
बिरही अंग न मोड़िहै, ज्यौं भावै त्यों खाव॥

—कबीर

कुछ ठिकाना! कितना साहसी और शूरमा होता है विरही!

व्यापकता की प्रत्यक्षानुभूति विरह-वेदना में ही होती है। विरही के प्रति सभी सहानुभूति प्रकट करते हैं, या उसकी दृष्टिही कुछ ऐसी हो जाती है कि सारा संसार उसे अपनेही समान विरहाकुल दिखायी देता है। विरह-दग्ध की दृष्टि में धुएँ-से बादल कोयले की तरह काले हो जाते हैं, राहु-केतुभी झुलस जाते हैं, सूर्य तप्त हो उठता है, चन्द्रमा की कलाएँ जलकर खण्डित हो जाती हैं और पलास के फूल तो अंगारों की भाँति उस आग में दहकने लगते हैं। तारे जल-जलकर टूट पड़ते हैं। धरती भी धायँ-धायँ जलने लगती है। कविवर जायसी ने इस विश्वव्यापी विरह-दाह का कैसा सकरुण वर्णन किया है—

अस परजरा बिरहकर गठा। मेघ स्याम भये धूम जो उठा॥
दाढ़ा राहु, केतु गा दाधा। सूरजु जरा, चाँद जरि आधा॥
औ सब नखत-तराईं जरहीं। टूटहिं लूक, धरनि महँ परहीं॥
जरै सो धरती ठावँहि-ठाऊ। दहकि पलास जरै तेहि दाऊ॥

ये सब उस विरही के दुःख में दुखी न हुए होते, उसके साथ इन सबों ने

समवेदना प्रकट न की होती, तो बेचारा कबतक अकेलाही उस आग में जलता रहता ? वह जला और उसने सारीही प्रकृति दहकती हुई देखी। वह रोया और उसने सारेही विश्व को अपने साथ फूट-फूटकर रोता हुआ पाया। हाँ, सच तो है, उस विरह-दग्ध के रक्ताश्रुओं से आज सभी भीग-भीगकर लाल हो रहे हैं, सभी उसके साथ हृदय का रुधिर आँखों से टपका रहे हैं—

नैननि चली रकत कै धारा। कंथा भीजि भयेउ रतनारा॥
सूरज बूड़ि उठा होइ ताता। औ मजीठ टेसू बन राता॥
भा बसंत, राती बनसपती। औ राते सब जोगी-जती॥
भूमि जो भीजि भयेउ सब गेरू। औ राते तहँ पंखि-पखेरू॥
ईंगर भा पहार जो भीजा। पै तुम्हार नहिं रोवँ पसीजा॥

विरही के रक्तिम आँसुओं से सारा संसार रँग गया। क्या ही करुण-कलापिनी कल्पना है ! विरह की क्या ही विशद विश्व-व्यापकता है !

निस्सन्देह प्रिय-विरह समस्त प्रकृति में भर जाता है। अणु-परमाणु-तक विरही दिखाई देता है। सूर की एक सूक्ति है—

ऊधो, यहि ब्रज बिरह बढ़यो।
घर बाहिर, सरिता, वन-उपवन, बल्ली-द्रुमन चढ़यो॥
बासर-रैन सधूम भयानक, दिसि-दिसि तिमिर मढ़यो।
द्वन्द करत अति प्रबल होत पुर, पयसों अनल डढ़यो॥
जरि कित होत भसम छिन महियाँ, हा, हरि मन्त्र पढ़यो !
सूरदास प्रभु नँदनंदन बिनु नाहिन जात कढ़यो॥

जो इस विरहानल से जलते-जलते बच गया, उसपर सचमुच आश्चर्य होता है—

मधुबन ! तुम कत रहत हरे ?
बिरह-बियोग स्यामसुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे ?

अस्तु, जोभी हृदयवान् होगा वह अवश्यमेव विरही के प्रति सहानुभूति दिखायेगा। हृदय-हीन की बात दूसरी है। हृदय की विशालता, सच

पूछो तो, एक विरही में ही देखी गई है। उसके हृदय में होता है अपने प्रियतम का ध्यान और उस ध्यान में होती है अखिल विश्व की व्यापकता। फिर क्यों न उसके व्यथित हृदय के साथ समस्त सृष्टि समवेदना प्रकट किया करे? विरह-दशा में सारा संसारही अपना सगा प्रतीत होने लगता है। सबके सामने हृदय खुला हुआ रखा रहता है। कुछ ऐसा लगा करता है कि सभी उस प्यारे को प्यार करनेवाले हैं, सभी उस दिलवर के दीदार के प्यासे हैं। जिसकी हमें चाह है, उन्हेंभी उसीकी है। शायद उन सबको उस लापते का पताभी मालूम हो। विरहिणी गोपिकाएँ अपने वियुक्त प्रियतम का पता, देखो, पशु-पक्षी, मधुप, लता-विटप, नदी, पृथिवी आदि सभीसे पूछ रही हैं—

विरहाकुल ह्वै गईं सबै पूछति बेली बन।
को जड़, को चैतन्य, न कछु जानत बिरहीजन॥
हे मालति ! हे जाति ! जूथिके ! सुनि हित दै चित।
मान-हरन मन-हरन लाल गिरधरन लखे इत ?
हे चंदन दुख-दंदन, सबकी जरनि जुड़ावहु॥
नँद-नंदन, जगबंदन, चंदन हमहिं बतावहु॥
पूछो री ! इन लतनि, फूलि रहिं फूलनि जोई।
सुंदर पिय के परस बिना अस फूल न होई॥
हे सखि ! ये मृग-बधू इन्हें किन पूछहु अनुसरि।
डहडहे इनके नैन अबहिं कहुँ देखे हैं हरि॥
हे असोक ! हरि सोक लोक-मनि पियहिं बतावहु।
अहो पनस ! सुभ सरस मरत तिय अमिय पियावहु॥
हे जमुना ! सब जानि-बूझि तुम हठहि गहति हौ।
जो जल जग-उद्धार ताहि तुम प्रगट बहति हौ॥
हे अवनी ! नवनीत-चोर चित-चोर हमारे।
राखे कितहुँ दुराय बता देउ प्रान-पियारे॥

—नन्ददास

भला, पूछो तो, ये ललित लताएँ क्यों फूलों से फूल रही हैं। यह निश्चय है कि बिना प्यारे का स्पर्श किये इनमें ऐसी प्रफुल्लता आ ही नहीं सकती। इन लहलही लताओं ने अवश्यही प्रियतम का स्पर्श-सुख प्राप्त किया है। यही कारण है कि ये फूली नहीं समातीं। और, ये सुकुमारी मृग-वधूटियाँ ? धन्य इनके भाग्य ! इनकी कैसी डहडही आँखें हैं ! अभी-अभी इन सुहागिनियों ने श्यामसुन्दर को कहीं देखा है। विना नन्दनन्दन की प्यारी-प्यारी झलक पाये नयनों में यह डहडहापन कैसे आ सकता है ?

चाह-भरी चातकी चन्द्रावलीभी उस काले छलिया के पास अपनी विरह-व्यथा का संदेसा भेजना चाहती है। वह भी आज यह भेद-भाव भूल गई है कि कौन जड़ है और कौन चैतन्य है ! कैसी पगली है—

अहो पौन ! सुख-भौन, सबै थल गौन तुम्हारो।
क्यों न कहौ राधिका-रौन सों, मौन निवारो॥
अहो भँवर ! तुम स्याम रंग मोहन-व्रत-धारी।
क्यों न कहौ वा निठुर स्याम सों दसा हमारी ?
हे सारस ! तुम नीकें बिछुरन-बेदन जानौ।
तौ क्यों प्रीतम सों नहिं मेरी दसा बखानौ॥
हे पपिहा ! तुम पिउ पिउ पिउ पिउ रटत सदाई।
आजहुँ क्यों नहिं रटि-रटिकैं पिय लेहु बुलाई॥

—हरिश्चन्द्र

और नहीं तो, पूज्य पवनदेव ! कृपाकर मेरा इतना काम तो करही दो। जहाँ कहींभी मेरे प्यारे हों, उनके पैरों की थोड़ी-सी धूल मुझे देदो। उसे मैं इन जलती हुई आँखों में आँजूँगी। हाँ, विरह-व्यथा में वह प्यारी धूलही संजीवनी का काम देगी—

बिरह-बिथा की मूरि, आँखिन में राखौं पूरि,
धूरि तिन पायन की, हा हा, नेकु आनिदै।

वियोग-शृंगार के प्रमुख कवि जायसी ने भौंरे और कौए के द्वारा एक विरहिणी का संदेसा उसके प्रियतम के पास बड़ी ही विदग्धता से भेजवाया

है। प्रिय-वियोगिनी केवल इतनाही कहलाना चाहती है--

पिउ सौं कहेउ संदेसड़ा, हे भौंरा, हे काग।
सो धन बिरहै जरि मुई, तेहिक धुवाँ इन्ह लाग॥

इस संदेसे में सर्वव्यापिनी सहानुभूति की कैसी सुन्दर व्यंजना हुई है!

हाय री प्रिय-स्मृति! तब क्या था और अब क्या है! जो कृष्ण कभी आँखों के आगे से न टलते थे, सदा पलकों पर रहते थे, हा! आज उनकी कहानी सुननी पड़ रही है! क्या-से-क्या हो गया आज!

जा थल कीनें बिहार अनेकन, ता थल काँकरी बैठि चुन्यो करैं।
जा रसना सों करीं बहुबातन, ता रसना सों चरित्र गुन्यो करैं॥
आलम जौनसे कुंजन में करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यो करैं।
नैनन में जो सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करैं॥

--आलम

हमें और क्या चाहिए। उनसे हम कुछ न माँगेंगी। न जाने, वे क्या जानकर संकोच कर रहे हैं। क्यों नहीं आते प्यारे श्याम! क्या कभी आयेंगे हृदयरमण कृष्ण?

सखि, क्या कहा? तनिक फिर तो कह, फिर मृदु गिरा सुनूँ तेरी,
सहसा बधिर हो गई हूँ मैं, मिटा मनोज्वाला मेरी;
पावेगा यह दग्ध हृदय क्या फिर वह रत्न अमित अभिराम?
हा हा? पैरों पड़ती हूँ मैं, सच कह, फिर आवेंगे श्याम?

—मधुप

क्या वह इतनाभी जानता होगा कि हम उसकी पगली वियोगिनी हैं? सुनो--

न कामुका हैं हम राज-वेश की,
न नाम प्यारा यदुनाथ है हमें।
अनन्यता से हम हैं व्रजेश की
विरागिनी, पागलिनी, वियोगिनी॥

--हरिऔध

पथिक! अब वीर-वर वियोग की अजेय सेना से आवृत मुझ निस्सहाय का यह अन्तिम सन्देश वहाँतक ले जाओ। कहना कि उसे अचानकही उस सेना ने घेर लिया है। उस शूर-शिरोमणि के विकट कटक का सामना करना आसान नहीं। बचने का अब उपायभी कोई नहीं। उसे अब सब तरह से हारा हुआ ही समझो। फिरभी, प्यारे, तुम्हारे द्वार पर, समय रहते, उसकी सुनाई न हुई, तो वह प्रेम का प्रण पालनेवाला विरही बाहर निकलकर एक मोर्चा तो लेगाही, और प्रेम के रणांगण में जूझकर धूल में मिल जायगा। फिर, प्यारे! तुम्हारे उस विस्मृत की यह कहानी दुनिया में चल जायगी। तो क्या अब यही कराना चाहते हो ?

राति-द्योस कटक सजेही रहै, दहै दुख,
कहा कहौं गति या बियोग बजमारे की।
लियो घेरि औचक अकेलो कै बिचारौ जीव,
कछु न बसाति यों उपाय बलहारे की॥
जान प्यारे! लागो न गुहार तौ जुहारि करि
जूझिहै निकसि टेक गहै पन-धारे की।
हेत-खेत-धूरि चूरि-चूरि ह्वै मिलेगी, तब
चलेगी कहानी घनआंनद तिहारे की॥

—आनन्दघन

आकर टुक एक झलक दिखादो तो अच्छा ही है, नहीं तो मरना तो है ही। तुम्हारे दर्शन की अभिलाषा लिए हुए ही मरेंगे। उस घड़ीभी ये आँखें हसरते दीदार में खुली रहेंगी। सच मानो, प्यारे!

देख्यो एक बारहूँ न नैनभरि तुम्हें, यातें
जौन-जौन लोक जैहैं तहीं पछितायँगी,
बिना प्रान-प्यारे भये दरस तुम्हारे, हाय!
देखि लीजो आँखें ये खुली ही रहि जायँगी॥

—हरिश्चन्द्र

कौन आँखें खुली रह जायँगी ? अरे, वेही विरागिनी आँखें, जो विरह

का कमण्डल लिये दिन-रात तुम्हारे दर्शन की मधुकरी भीख द्वार-द्वार माँगा करती हैं—

विरह-कमंडलु कर लिये, वैरागी दो नैन।
माँगें दरस-मधूकरी, छके रहैं दिन-रैन।।

—कबीर

हाँ, वियोगिनी की वेही विरागिनी योगिनी आँखें, जो—

बरुनी बघम्बर में गूदरी पलक दोऊ
कोए राते बसन भगोहैं भेष रखियाँ;
बूड़ी जलही में, दिन-जामिनिहूँ जागैं, भौंहें,
धूम सिर छायो बिरहानल बिलखियाँ।
अँसुआ फटिक-माल, लाल डोरी सेल्ही पैन्हि,
भई हैं अकेली तजि चेली संग सखियाँ।
दीजिए दरस 'देव', कीजिए संजोगिनी ए
जोगिनी ह्वै बैठी हैं बियोगिनी की अँखियाँ।।

—देव

दे दे कोई इन योगिनियोंको प्रेम-रस की मधुमयी मधुकरी भिक्षा। नीरस ज्ञान की बातों से इनकी भूख शान्त होने की नहीं—

अँखियाँ हरि-दरसन की भूखी।
कैसे रहैं रूप-रस-राची, ये बतियाँ सुनि सूखी।।

—सूरदास

भूल होगी, भारी भूल होगी। तुम्हारे पास अभी क्यों कोई संदेसा भिजवाया जाय ? क्यों तुम्हें उलाहना दे ? हमारी विरह-दशा अभी पराकाष्ठा को पहुँचीही कहाँ ? अभी तुम्हारी प्यारी याद पर हमने यह घायल दिल क़ुर्बान नहीं किया। प्यारे, अभी तुम्हारी याद में यहाँ फ़ना हुआ ही कहाँ है ? विरह तो वह है, जो विरही के समस्त अहंकार को प्रियतम की प्रतीक्षा में लय करदे। सो वह बात अभी यहाँ कहाँ ? तुम्है यहाँतक खींच लाने की हमारे दिल में अभीतक वह ताक़त ही नहीं आयी। पहले अपने

दिल के घर में तुम्हारी लगन की वह आग लगालें, जो यहाँ का सब कुछ खाक करदे, तब कहीं तुम्हारे पास कोई संदेसा भेजें, तब तुम्हारी निठुराई पर तुम्हें उलाहना दें। अभीसे यह क्यों कहें कि--

थक गये हम करते-करते इन्तजार,
एक क़यामत उनका आना हो गया!

तबतक यही हसरत क्यों न दिल में रखी जाय कि—

खुदा करे, कि मज़ा इन्तज़ार का न मिटे,
मेरे सवाल का वह दें जवाब बरसों में।

क्योंकि-—

है वस्ल से ज़ियादा मज़ा इन्तज़ार का।

मिलन की अपेक्षा प्रिय-मिलन की प्रतीक्षा में कहीं अधिक आनन्द है। खैर हमारे सवाल का जवाब वह चाहे जब दें, पर यह याद तो ज़रूर दिलाते रहें कि—

प्रेम-प्रीति कौ बिरवा गयेउ लगाय,
सींचन की सुधि लीजो, मुरझि न जाय।

—रहीम

इन आँखों ने विरह की एक बेलि बोई है। वह आँसुओं से सींची गयी है, और जड़ उसकी अब पाताल तक पहुँच गयी है। कैसी अलौकिक लगन-लता है वह!

मेरे नैना बिरह की बेलि बई।
सींचत नीर नैन के सजनी! मूल पताल गई।।
बिगसति लता सुभाय आपने, छाया सघन भई।
अब कैसे निरुवारों सजनी! सब तनि पसरि कई।।

—सूरदास

इसे कैसे सुलझायें! यह बेलि तो रोम-रोम में उलझ गयी है। इसे लहलही भी कैसे बनाये रख? हमारे पास अब नयन-नीरभी तो नहीं है, दोनों ही नाले आज सूखे पड़े हैं। कसे सींच इसे? प्रेम-जल से सींचो, प्रेम-जल से—-

हृदय-कियारी माँझ, सींचों प्रेम-जीवन सौं,
खेल मति जानौ, यह बेल बिरहा की है।

हम क्या सींचें इस बेलि को ! वही आकर इसे जो सींच जाय, तो शायद यह कुछ लहलही हो जाय—

अबहुँ बेलि फिर पहलुहै, जो पिय सींचे आइ।

—जायसी

सच्चे प्रेमियों का वियोग विलक्षण होता है। वियोग होते हुए भी उनमें वियोग नहीं होता। दोनों ही प्रेम की डोरी में बँधे रहते हैं। कितने ही दूर वे प्रेमी क्यों न चले जायें, उनके हृदय वैसे ही मिले रहेंगे। प्रेम में ज़रा-सी भी कमी न आयगी। बड़ी अद्भुत है प्रेम की डोरी। प्रेमियों का वियोग भी रहस्यमय है—

अद्भुत डोरी प्रेम की, जामें बाँधे दोय।
ज्यों-ज्यों दूर सिधारिए, त्यौं-त्यौं लांबी होय॥
त्यों-त्यों लांबी होय, अधिकतर राखे कसिकैं।
नेह न्यून ह्वै सकत नैकु नहिं, दूरहु बसिकैं॥
विधिना देत बिछोह, कहूँ तासौं कर जोरी।
रखियो छेम-समेत, प्रेम की अद्भुत डोरी॥

—देवीप्रसाद 'पूर्ण'

एक कहीं है तो दूसरा कहीं, पर प्रेम के एकही बाण से दोनों के दिल एकसाथ बिंधे हुए हैं ! क्या कहें हम इस तीरे इश्क़ को !

हम तड़पते हैं यहाँ, पर वाँ तड़पता यार है,
एक तीरे इश्क़ है, और दो दिलों के पार है।

अब, इसे वियोग कहें या संयोग ? भिन्न होते हुए भी दोनों अभिन्न हैं। सुना जाता है कि विरही को दयालु दाता ने दो अजीब खिलौने बख्श दिये हैं—आँसू और आह ! खूब बहला सकता है इन खिलौनों से वह पगला अपना मचला हुआ दिल। अब और क्या चाहता है ? चाहता क्या है, कुछ नहीं। पर उसके पास आज वे मन-बहलाव की चीज़ें हैं कहाँ ? न आँखों में

आँसू हैं, न दिल में आह। हाँ, सच तो कहते हैं--

दर्द अपने हाल से तुझे आगाह क्या करे,
जो साँस भी न ले सके, वह आह क्या करे?

अब तो आह से भी वह दिल बहलने का नहीं। यही हाल आँसू का भी है। आँखों के वे झरने कभी के बन्द होगये हैं। अब तो वहाँ सिर्फ एक जलन है। या, वह ना-उमेदी, जिसके आगे वह जोशेजुनू में मस्त विरही घुटने टेके हुए यह कह रहा है—

सँभलनेदे मुझे, ऐ ना-उमेदी, क्या क़यामत है,
कि दामने ख़याले यार छूटा जाय है मुझसे।

—ग़ालिब

मुझे ज़रा, सँभलने तो दे, मेरी ना-उमेदी! बड़ी आफ़त है क्या करूँ, मेरे प्यारे का ध्यानरूपी दामन तेरे मारे मेरे हाथ से छूटा जा रहा है।

ओह! कैसी होगी उस पगले वियोगी की ना-उमेदी! जिसकी बड़ी-से-बड़ी उमेद मरना हो, ज़रा उसकी ना-उमेदीं तो देखो कितनी बड़ी होगी--

मुनहसर मरने पै हो जिसकी उमेद,
ना-उमेदी उसकी देखा चाहिए।

—ग़ालिब

पर यह ना-उमेदी सदा ना-उमेदी ही रहेगी। इस निराशा से ही किसी दिन आशा का उदय होगा। मान लो कि विरह की निराशा में एक दिन मौत भी आजाय, तोभी कुछ बिगड़ने का नहीं, क्योंकि वह मौत एक असाधारण मौत होगी। वह मौत, मौत की मौत होगी। अजी, कह देना उस घड़ी—

मौत से यह मेरी नहीं, मेरी क़ज़ा की मौत है।
क्यों डरूँ इससे कि फिर मरकर नहीं मरना मुझे।

ठीक है, पर यह क्या बात है, जो विरह में मतवाले प्रेमी अक्सर मरने की बात उठाया करते हैं? क्या सचमुचही वे लोग, अन्त में, मर जाते या मर

सकते हैं ? इसमें सन्देह नहीं कि वे मरना तो जानते हैं, पर मर नहीं सकते, क्योंकि मरना उनके वश का नहीं। उनके प्राणों को एक ओर से तो प्रिय-दर्शन-प्यासी आँखें रोके रहती हैं और दूसरी ओर से उनका हसरत-भरा घायल दिल ! अब, बोलो, वे कैसे और कहाँ से निकल जायँ ?

नाम-पाहरू दिवस-निसि, ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन-निज-पद-जंत्रित, जाहिं प्रान केहि बाट।।

—तुलसीदास

क्षणमात्र को भी वह ध्यान हृदय से नहीं टलता—

चलत चितवत दिवस जागत सुपन सोवत रात।
हृदय तें वह स्याम मूरति छिन न इत-उत जात।।

—सूरदास

दिन-रात तुम्हारा प्यारा नाम पहरा दिया करता है, तुम्हारा ध्यान अन्तर्द्वार का कपाट है, और वहाँ तुम्हारे चरणों की ओर लगे नेत्रों ने ताला लगा रखा है? अब बताओ प्राण किस मार्ग से निकलें ? प्राण अबभी निकलने को अधीर तो बहुत हो रहे हैं, पर निकलें कैसे ? ये हठीली आँखें जब उन्हें निकलनेदें—

बिरह-अगिन तन तूल समीरा। स्वाँस जरइ छन माँह सरीरा।।
नयन स्रवहिं जल निजहित लागी। जरह न पाव देह बिरहागी।।

—तुलसीदास

तुम्हारा विरह अग्नि के समान है। उसमें यह रूई-जैसा शरीर एक क्षण में ही जलकर भस्म हो जा सकता है, क्योंकि मेरी साँसों की हवा उस आग को औरभी प्रज्वलित कर रही है, पर पापी शरीर जलने नहीं पाता, ये स्वार्थी नेत्र निरन्तर वहाँ जल बरसाते रहते हैं।

कह नहीं सकते कि विरह की अग्नि क्या है—

धनि बिरही औ धनि हिया, जहँ अस अगिन समाइ।

—जायसी

कलाकार से

उस दिन एक पर्ण-तृण-शून्य टीले पर खड़ा-खड़ा मैं अपने इस औंधे घड़े को मौज में बजा रहा था। देखकर तुम्हारे कलाकार साथियों को उसमें कुछ कुतूहल-सा लगा। और वे लगे पूछने—"इस औंधे घड़े में तुझे ऐसा क्या सुन्दर दीखा, जो मस्ती में झूम-झूमकर तू इसकी खोपड़ी पर ऐसा कर्णकटु ताल दे रहा है ?"

जवाब था मेरा,—"भगवान् बुद्ध के संवादों के अन्त में प्रायः आता है न, कि 'जैसे औंधे घड़े को सीधा कर दिया' ? वाक्य यह वहाँ शंका-समाधान के अर्थ में दोहराया जाता था न ? मैं इस घड़े पर इसलिए अंगुलि-प्रहार करता हूँ कि सदा यह औंधाही बना रहे—कभी सीधा न हो जाये; नहीं तो ज्ञान-संचारिणी सारीही शंकाओं का एकदम समाधान हो जायेगा।"

शंका का समाधान या निवारण आखिर हो क्यों ? कलाकारो ! शंका के चिरअस्तित्व में ही तो तुम्हारी कला की सारी समृद्धि निहित है। शंका के श्मशान पर कला, भला, कभी फूली-फली है ?

शंका में जो अस्पष्टता होती है, उसमें जो वक्रता दीखती है, वही तो कला की जान है।

घड़े को यदि मैं सीधा करदूँ, तो शंकाओं का विलय हो जायेगा, अस्पष्टता खुल जायेगी, वक्रता मिट जायेगी। स्पष्टता और सरलता की भित्ति पर फिर तुम्हारी यह कला एक क्षणभी न टिक सकेगी। अतः तुम्हारे हक़ में वह स्वागत की वस्तु नहीं। कला तुम्हारी आबाद रहे, इसीलिए मैं घड़े की औंधी खोपड़ी पर अंगुलि-ताड़न कर रहा हूँ। मेरी ऐसी कल्याणकारिणी प्रक्रिया को तुम अपनी कला के हित में वाधक समझ बैठे हो,—कितने आश्चर्य की बात है यह !

सुना था कि पोषण-प्रक्रिया में कला का स्पष्ट दर्शन होता है, पर मुझे तो उसका सम्पूर्ण दर्शन शोषण-प्रक्रिया में हुआ। जाड़े के दिनों में घी तुम घड़े में से टेढ़ी अँगुलियों से ही निकालते हो—सीधी अँगुलियों से कभी शोषण हुआ है ? अतः वक्रता में ही कला का पूर्ण विकास होता है।

समन्वय के इस युग में राजनीति और कला के बीच कोई विशेष अन्तर नहीं रहा। रहा होगा कोई प्रागैतिहासिक युग, जब राजनीति तो एक अलग रास्ते जाती होगी, और कला किसी दूसरे रास्तेही। तब शायद कला उपयोगितावाद के धूमिल दर्पण के सामने खड़ी होकर आपना अजीब-सा

सौन्दर्य निहारती होगी। तब कला का अन्तर सरल-तरल रहा होगा; प्रौढ़-तम कलाविदों की भाषा में 'सड़ा-गला'। अतः कला तब भौंड़ी-सी ही रही होगी; आजकी-सी सुघर-सलौनी नहीं।

जैसे राजनीति में सीधे बात करना गुनाह है, वैसेही कला में पेचीदा मार्ग से हटना बेढंगापन है।

उपयोगिता से तुम्हारी कलाओं का सदा असहकार-सा ही रहा है। तुम्हारा प्रश्न है कि सिगरेट के धुएँ का शून्य अन्तरिक्ष में समा जाना क्या कोई प्रयोजन रखता है? उपयोगिता क्यों टाँग अड़ाये धूम्र की निरुद्देश्य शून्य-पथ की असीम यात्रा में?

उपयोगिता के पैरों से जो लोग ज़मीन पर सीधी-सादी गति से चलते हैं, उन्हें तुम्हारी कला के सुनहरे पंख उपहास की अँगुलियों से छुएँ तो किसीके नाराज़ होने की ऐसी क्या बात?

कलाकारो! सामान्य जनसमाज पर तुम हरगिज़ रहम न खाना। पर वह तुम्हारा अपराधी साधारण समाज अपने ठोस पैरों को कैसे काट डाले? और कैसे उगाले रुपहरे-सुनहरे पंख अनन्त अन्तरिक्ष-पथ पर रहस्यमयी उड़ान भरने के लिए? यह भद्दा-सा मानव आखिर कैसे स्वप्न का स्वर्ण-विहग बन जाये?

तुम्हें तो सभी-कुछ टेढ़ा-ही-टेढ़ा चाहिए न? तुम्हारी स्थापत्य-कला में मानव-आकृतियाँ टेढ़ी-तिरछी उलझी हुई ही होनी चाहिएँ। विधाता की सृष्टि में कला को सँवारते-सुधारते तुम कभी थकते भी नहीं। तुम्हारी काव्य-कला के लिए भी टेढ़े भाव और टेढ़े ही शब्द होने चाहिएँ। तुम्हारी ये ललित कलाएँ न सीधी हैं, न बिल्कुल गोल। उनमें अनेक कोण हैं, किसी-भी मोड़ से चाहे जो अर्थ-दर्शन किया जा सकता है।

तुम कलाकारों में से कोई-कोई तो जीवन जीने को ही कला मान बैठे हैं! किंतु जीवन कोई प्रकट-सी चीज़ तो है नहीं। अथवा, उसे कला के टेढ़े-मेढ़े साँचे में ढालकर जटिल बना दिया गया है।

कहते हैं, विश्वामित्र ने अपनी एक अलगही सृष्टि रच डाली थी। तुम कलाकारों ने भी तो अपनी निराली सृष्टि रची है, और तुम्हारे कल्पना-गर्भ में अबभी कितनीही अभिनव सृष्टियों के बीज छिपे पड़े हैं। विश्वा-मित्र की सृष्टि की कुछ वस्तुएँ, कहते हैं, आजभी विकृत अवस्था में देखने में आती हैं। नारियल शायद उसी सृष्टि-संस्करण का एक अवशेष है, और वह खासा उपयोगी है। मानवही नहीं, देवताभी उसे लालचभरी दृष्टि से देखते हैं। पर तुम्हारी सृष्टि का अवशेष वैसाभी कोई देखने में नहीं आया। अनन्त अन्तरिक्ष में विहार करनेवाले ये धुएँ के फव्वारे अजन्ता की जीर्ण दीवारों पर विचित्र अँगुलियों का भलेही इन्द्रजाल बुना करें, किन्तु जटा-जूटधारी ऋषिकल्प नारियल ने अपना जो स्थान नर-समाज एवं देव-समाज में स्थापित कर रखा है, वह तुम्हारे उलझानेवाले इन धूम्रजालों की अँगु-लियों या निर्देशों में कहाँ मिलने का ?

कुदाली-फावड़े की उछल-कूद को भी तुमने कभी कोई कला माना है ? तुम्हारी दृष्टि में हल का चित्रांकण कला-कृतियों में प्रतिष्ठा का स्थान नहीं पा सकता,—यद्यपि मज़दूर और किसान की पथरीली छाती पर आरूढ़ होकर तुम्हारी ललित कलाएँ कभी-कभी 'ग्रामों की ओर' भी एकाध चक्कर काट आती हैं।

कभी किसी युग में गाया जाता था—'सत्यता में सुन्दरता देखो; सर-लता में सुन्दरता देखो; प्रामाणिकता में सुन्दरता देखो।'

सुन्दरता का रूप-दर्शन अपनेसे बाहर कब करते थे तब ? सुन्दरता तब शायद नीति की कोई सखी-सहेली रही होगी।

पर आज तो कला के मनोमोहक द्वार पर नीति वह एक अपरिचिता-सी, अजनबी-सी खड़ी है। तुम्हारी कला इस अजनबी मेहमान का आतिथ्य करेगी, या शून्य-पथ के ही निरुद्देश्य चक्कर काटती रहेगी ?

किंतु यह तो शंकाओं का समाधान होने-जैसी बात हुई। तुम्हारी दुनिया में तो घड़े का औंधा रहनाही अच्छा है, कलाकार !

शासक से

शासक ! तुम्हारा प्रयोजन यह सर्वथा अर्थ-संगत है कि प्रजा के उत्कर्ष और विकास के लिए शासन अत्यन्त आवश्यक है। फूल तभी तो विकसित होता है, जबकि वह संपुट के नियन्त्रण में रह चुका होता है।

तुम्हारे पवित्र प्रयोजन में इस तथ्य से कोई फर्क नहीं पड़ता कि फूल उस संपुट का निर्माण स्वयंही करता है, और इसलिए उसे स्वशासन या स्वातन्त्र्य पसन्द है।

'स्वशासन' से तो तुमभी इन्कार नहीं करते। तुमने 'स्वायत-शासन', 'लोक-शासन', 'प्रातिनिधिक शासन' आदि सुन्दर, श्रुतिमधुर शब्दों की सृष्टि कर डाली है। अतः प्रजा का उत्कर्ष और यह विकास तुम्हारे द्वारा भी निर्वाधही परिचालित होता है।

'स्वशासन' यह यों कोई नया शब्द नहीं है। इसका आविष्कार बहुत पहले आरण्यक-शोधकों ने किया था,—मगर एक भिन्न अर्थ में।

इस शब्द से उन्होंने 'आत्मदमन' का अर्थ ग्रहण किया था। प्रजा के कल्याण की क्योंकि उन एकांत-चिंतकों को तनिक भी चिंता नहीं थी।

प्रजा के अभ्युदय के हितार्थ यद्यपि बाद को कतिपय स्मृतियाँ, रची गई, परन्तु तन्त्र या व्यवस्था की दृष्टि से वेभी अपूर्ण और अशुद्धही रहीं। शासन तब शायद एक अत्यन्त संकीर्ण या अपने आपमेंही केन्द्रित शब्द रहा होगा; इतना तब वह व्यापक कहाँ बन पाया था? उन व्यवस्थापकों के लिए तो समाज में मात्र आत्म-शासन पर्याप्त था।

ऐसे स्वशासन के काल्पनिक बल पर प्रजा का हित-सम्पादन भला कैसे हो सकता था? अतिप्राचीन काल में कुछ ऐसीही अस्पष्ट-सी राज्य-व्यवस्था का आविष्कार हुआ था।

राजा का शासन-तन्त्र तब एकदम निर्बल होता था। तब का पौरुषहीन राजा आयु के चौथेपन में उत्तरदायित्व से डरकर अरण्यवास करने चला जाता था।

उसका साराही शासन-प्रयत्न व्यर्थ जाता था। कहते हैं, विनोदी सूर्य जैसे अपनी किरणों से जल को खींच-खींचकर पुनः खेतों पर उँडेल देता है, उसी तरह तब का सनकी राजा अपनी प्रजा से राजस्व वसूल कर के फिर उसी को लौटा देता था।

ऐसेही वे औरभी कितनेही निरे अर्थशून्य कार्य किया करते थे। कोई तो हल की मूठ पकड़ लेता था; कोई प्रजा के हितार्थ उपवास कर बैठता था; कोई अपनी पत्नी को घोर जंगल में भेज देता था; और कोई स्वेच्छा-पूर्वक भिक्षु बन जाता था।

'शासन' को 'शोषण' का समानार्थक बना देना कोई साधारण पुरुषार्थ का काम नहीं। यह पवित्र प्रयास पूर्णतया वैज्ञानिक है। 'शासन' यदि प्रचलित अर्थ में दमन है, तो 'शोषण' के साथ उसकी एकरूपता सधनीही चाहिए। शासन हो या कि शोषण, उससे 'प्रजारंजन' ही होता है।

किन्तु शासन को तो असल में लोक-तन्त्र से चिरंतन प्रतिष्ठा मिली है, क्योंकि यह बहुजनों के शुद्ध विवेक-बल पर चलता है। तुम मानते हो कि बहुमानव ग़लती कभी करही नहीं सकता।

और फिर 'बहुमानव' हमेशा 'उत्तम मानव' ही होता है। 'बहुमत में

परमेश्वर बसता है' इस तथ्य को भला कौन झुठला सकता है ?

सत्य हमेशा चार की तरफ ही झुकेगा, तीन की तरफ नहीं। अतः हस्त-गणना के आधार पर चलनेवाले लोकतन्त्र को निःसन्देह निर्दोष और सम्पूर्ण होनाही चाहिए।

लोकन्तन्त्र में चूँकि चर्चा या बहस के लिए बहुत बड़ा व्यापक क्षेत्र पड़ा रहता है, अतः न्याय हमेशा वहाँ छन-छनकरही बरसता है। और फिर जिस वाद-विवाद का उपसंहार 'हस्त-उत्थान' की पद्धति द्वारा होता हो, उसकी तरफ भला कौन अँगुली उठा सकता है ?

धन्य है 'हस्तोत्थान-अनुशासन' को! सिद्धांत का अपवादों और समझौतों के साथ गठबन्धन कराकर दल का नेता ज़रा-सा इशारा करता है और सैकड़ों हाथ बुद्धि और हृदय की उपेक्षा कर एकदम ऊँचे उठ जाते हैं!

बाद में ठुकराया हुआ मस्तिष्कभी हस्त-संकेतात्मक सत्ता की अधीनता स्वीकार कर लेता है, और उसे वह 'अनुशासन' का नाम दे देता है। सोचता है कि लोक-तन्त्र का निर्णय शुद्धही हुआ होगा, कारण कि इतने तमाम हस्तों ने ऊँचे उठकर विवादात्मक प्रश्न का आमूल मन्थन जो किया है।

मंथन का काम पहले मस्तिष्क और हृदय के सुपुर्द था; उसे अब लोकतन्त्रवादियों ने 'हाथ' को सौंप दिया है।

मद्य को एक या दो-चारही क्यों पियें ? दो-दो, चार-चार बूँद लाखों-करोड़ों को, और एक-एक प्याला उसका सौ-पचास जनों को क्यों न पिलाया जाये ?

यह वक्तव्य कितना मधुर और मादक है कि राष्ट्र के शासक सारे ही प्रजाजन हैं! प्रश्न खड़ा करना अप्रस्तुत है कि राष्ट्र में कोई 'स्वशासित' भी है या नहीं ?

तुम्हारी दृष्टि में राज-तन्त्र हो या कि प्रजा-तन्त्र, उसमें लोक-हित को स्वतः विकसित नहीं होना चाहिए, बल्कि शासन के इशारे पर लोकहित

को अपनी परिभाषा स्वयं गढ़ लेनी चाहिए, और 'बहुमानव' द्वारा संचालित विधान-यंत्र के चक्र पर लोक-बुद्धि और लोक-हृदय को ठीक तरह से घूमते रहना चाहिए।

कभी-कभी तुम परस्पर का शासन ज़्यादा पसन्द करते हो। लोकमत राष्ट्रीय मद्य से प्रेरित होकर 'अधिनायक' का निर्माण करता है, और अधिनायक फिर लोकमत को अपने आकर्षक आतंक द्वारा मोह लेता है।

मगर एक चीज़ तो तुम्हारे सभी शासन-तन्त्रों में व्याप्त देखी जाती है, और उसका व्याप्त रहना ही तुम्हारे हक़ में श्रेयस्कर है,—यह कि साधारण प्रजा कभी भेड़ की कोटि से ऊपर नहीं उठती। वह भेड़िए और बाघ का भी स्वाँग भरना जानती है, पर कइयों को बाघ बनाकरभी वह अपना भेड़ का स्वरूप कभी त्यागना नहीं चाहती; चाहेभी, तो त्याग नहीं सकती।

राज-तन्त्र के आगे वह 'भेड़-प्रजा' अपनी वफ़ादारी ज़ाहिर करती है, यद्यपि हृदय में उसके विरक्ति और घृणा भरी रहती है, और कभी-कभी वह डरते-डरते सफल या विफल विद्रोह भी कर बैठती है।

लोकतन्त्र के सौन्दर्य पर वह मोहित हो जाती हैं। सत्ता और जातीयता की मादक सुन्दरता को वह घट-घट में देखती है; चाहती है कि उसे उँडेलकर पूरी-की-पूरी पी जाये, पर ओठों से जो चीज़ जा लिपटती है, वह तीक्ष्ण तेज़ाब होता है।

अधिनायक-तन्त्र में वह देखती तो अपनीही डरावनी परछाईं है, पर उसे ठीक-ठीक पहचान नहीं पाती।

शासक! तुम्हारा भाँति-भाँति का यह शासन-तन्त्र प्रजा के हक़ में अस्पष्ट-सा ही रहा है, चाहे उसकी आँखों में तुमने कैसाही मोहनांजन डाला हो।

प्रजा तुम्हारे विविध रूपों पर मोहित होना जानती है और तुम्हें पदच्युत करनाभी उसे आता है। पर यह अच्छा है कि प्रत्येक शासन-तन्त्र में तुमभी उसके लिए अपरिचित-से रहते हो, और वह अजनबी-सी रहती है।

कभी-कभी असंस्कृत और अशासित जातियों को उनके स्तर से ऊपर उठा देने का पवित्र उद्देश्य लेकरभी तुम्हें ईश्वरीय आदेश से उनपर शासन करना पड़ा है।

शांति और व्यवस्था की प्रतिक्षण तुम्हें चिंता रहती है, और कहीं वे खतरे में न जा पड़ें इसलिए तुम्हें कभी-कभी अशान्ति और अव्यवस्था से भी काम लेना पड़ता है।

तुम स्वयं अपने आयोजनों द्वारा पैदा की हुई अशान्ति और अव्यवस्था को सदा शांति और व्यवस्थाही कहते हो। तुम्हारी अपनी तथा प्रजा की प्रवृत्तियों में यह पारिभाषिक अंतर दुर्भाग्य या सद्भाग्य से हमेशाही देखने में आया है।

तुम्हारी मर्यादा के अन्दर प्रवेश पातेही बड़े-बड़े गुनाह अपना असली रंग बदल लेते हैं; राष्ट्रहित के अनिवार्य साधनों में वे परिणत हो जाते हैं।

अविश्वास और सन्देह की पुख्ता बुनियाद पर तुम्हें ऐसा शासन-तन्त्र स्थापित करना बहुत प्रिय है, जिसके उद्देश्य होते हैं निष्ठुर शांति, घोषित व्यवस्था, और शोषक लोक-हित।

अद्भुत है कि जन-हित की तुम्हारी सुन्दर-सुन्दर योजनाएँ मूढ़ प्रजा की समझ में नहीं आतीं,—उनको या तो वह मुग्ध दृष्टि से या फिर संदिग्ध दृष्टि से देखती है।

शासक ! तुम्हें यह प्रस्ताव एकदम नापसन्द है कि पशुओं की जंगली राज्य-व्यवस्था की ओर लौट चलना चाहिए। उस व्यवस्था में, क्योंकि, न तो सांस्कृतिक विकास के लिए गुंजाइश है, और न कोई वैधानिक योजनाएँ ही वहाँ संगठितरूप से चल सकती हैं।

अपने पक्षों के समर्थन में यद्यपि तुम कभी-कभी वन्य पशुओं, मधुमक्खियों और चीटियोंतक की मिसाल दे डालते हो, पर असल में अपने शासन-तन्त्र के सामने सर्वत्र तुम्हें अव्यवस्था और अराजकताही दीखती है।

शासक ! तो क्या अन्त तक तुम एक पहेलीही बने रहोगे ?

वृद्ध से

लोगों का घोर अज्ञानही है यह, जो उनसे कहलाता है कि तुम वृद्धावस्था के काल-दण्ड से हर घड़ी परेशान रहते हो। तुम्हारे श्वेत केशों और निर्दन्त मुँह ने तो तुम्हें आज बालकों और युवकों की दृष्टि में बिना प्रयास के ही श्रद्धा-भाजन बना दिया है।

ये शुभ दिन तुम्हें कितनी लंबी प्रतीक्षा के बाद देखने को मिले हैं, इसका अनुमान आलोचक युवकों को हो नहीं सकता। दूसरों से सेवा लेने की तुम्हारी वह सुन्दर जीवन-साध आज जाकर कहीं पूरी हुई।

शरीर यों शिथिल न पड़ गया होता, तो दूसरों से सतत सेवा लेने का यह सुयोग तुम्हें मिलताही कहाँ? उन्हेंभी तो तुमने कृतार्थ किया है, जिन्हें सेवा करने का यह स्वर्ण अवसर हाथ लगा है।

निरन्तर सेवा लेते-लेते उनके धैर्य की तुम कड़ी परीक्षाभी तो ले रहे

हो। अतः परेशान तो सेवकही हो सकता है, सेव्य कदापि नहीं।

अच्छा है कि तुम उनकी सेवा-शुश्रूषा से कभी सन्तोष नहीं मानते।

तुम्हें आशंका बनी रहती है कि संतोष प्रकट करने से कहीं उनकी गति मन्द न पड़ जाये, और इस तरह वे कृतकृत्य होने के महान् पुण्य से वंचित हो जायें।

मगर सेवा-व्रतीभी ऐसे-ऐसे शूरवीर मिल जाते हैं, जो तुम्हारे असन्तोष को पराजित करके ही छोड़ते हैं। वे समझ लेते हैं कि तुम रीझोगे तो केवल सेवा-सुश्रूषा से ही; तुम्हारी वृद्धा बुद्धि के आगे नई-नई दलीलें काम नहीं देंगी।

क्या बात है कि युवकों के हर काम में तुम कुछ-न-कुछ दोष खोजते रहते हो? अपने लम्बे घिसे-पिसे अनुभवों के आगे तुम्हें उनका हरेक काम शायद अधूराही दिखता है।

और वेभी कैसे मूर्ख हैं, जो तुम्हें मन्द दृष्टिवाला समझकर धोखा देना चाहते हैं! कमबख्त यह नहीं जानते कि तुम बूढ़ों की दृष्टि को ईश्वर ने चार-चार कान दिये हैं। देखने का काम तुम कानों से चला सकते हो, और सुनने का काम आँखों से।

अद्भुत है कि तुम्हारी एक इन्द्रिय शिथिल पड़ जाती है, तो दूसरी इन्द्रिय में तेज़ी आ जाती है। जिह्वा में तो ऐसी स्फूर्ति और जवानी कि, देखकर आश्चर्य होता है। तुम्हारी वाणी का प्रवाह रुकना नहीं जानता। सुननेवाला कोई न भी हो, तबभी बोलना तुम्हारा उसी निर्वाध गति से सतत जारी रहता है।

स्वाद की परिपूर्ण रसज्ञाभी तुम्हारीही जिह्वा होती है, क्योंकि बालक को तो कुछभी ले-देकर फुसला दिया जा सकता है, और युवक को उसके यौवन की मस्ती भुलावे में डाले रहती है, लक्कड़-पत्थरभी वह चबा जाता है, और स्वाद का उसे पता भी नहीं चलता।

तुम कितने अधिक सहृदय हो कि जर्जरीभूत काया के प्रति भी तुम्हारी मोह-माया दिन-दिन बढ़तीही जाती है। जिस देह ने तुम्हें तीनों पनों में

बेहद सुख पहुँचाया, उसके प्रति चौथे पन में अत्यधिक अनुराग का होना स्वाभाविकभी है। देह के प्रति विराग तो विरलेही किसी कृतघ्न वृद्ध को होता होगा।

युवावस्था में किसी रोचक 'रोमांस' के फेर में पड़कर दुनिया को भलेही तुमने कभी मिथ्या माना हो, पर वृद्धावस्था में तो तुम उसे सत्य और सुखदही मानते हो। संसार से ऊबकर आत्मघात अधिकतर अधीर युवकही किया करते हैं, प्रबुद्ध वृद्धजन ऐसा पाप-कर्म कभी नहीं करते।

तुम खीज उठते हो कि लोग तुम्हें राम-नाम जपने का उपदेश क्यों देते हैं। जिसकी आँखों के सामने सारे जीवन का लेखा-जोखा खड़ा हो, कितने ही अधूरे काम पड़े हों, और बुढ़ापे में आराम से कुछ सोचने की फ़ुर्सत मिली हो, वह दुनिया से विदाई लेते समय क्यों व्यर्थ राम का नाम जपे?

यह तो ध्रुव-प्रह्लाद-जैसे अबोध बच्चों का काम है, जिनके सुकुमार कन्धों पर न तो कोई जिम्मेदारी लदी होती है, न दिमाग़ में भला-बुरा सोचने की कुछ समझही।

समाज ने तुम्हारे विरुद्ध पुराकाल में न जाने क्यों यह काला क़ानून बना डाला था कि चौथेपन में तप करना आवश्यक है; और घर से तुम क़ानूनन निकाल बाहर कर दिये जाते थे। सद्भाग्य है कि आज वह दुष्ट क़ानून रद हो गया। अब न तुम्हें जप की ज़रूरत है, न तप की। जप-तप तो अनाथ, अपाहिज लोग किया करते हैं; तुम्हारे जैसे पुत्र-पौत्रादिसम्पन्न भाग्यवान वृद्धपुरुष नहीं।

फिर तुमने तो सारी ज़िन्दगी तपही किया है। गृहस्थी का भारी भार लादकर चलना क्या कोई मामूली तप है? उस महातप का ही यह सुफल है कि वासना और तृष्णा-जैसी दैवी सम्पदाएँ तुम्हारे सामने आज हाथ बाँधे खड़ी हैं।

तुम्हारी ज़िम्मेदारी कम नहीं हुई, बल्कि कुछ बढ़ी ही है। लड़कों की अध-कच्ची बुद्धि पर तुम्हारा विश्वास नहीं। जिसने इतना लम्बा ज़माना देखा हो, वह सहसा किसीपर विश्वास करे ही क्यों?

तुम जानते हो कि तुम्हारे परिपक्व निर्णयों पर जो विश्वास नहीं करता, वह ग़लती करता है, क्योंकि तुम्हारी दृष्टि में बूढ़े आदमी जोभी निर्णय कर देते हैं, वह सदा विशुद्धही होता है।

तुम यहभी मानते हो कि लड़के किसी शुद्ध निर्णय पर पहुँचही नहीं सकते, और तुम्हारी व्याख्या के अनुसार वे सब लड़केही हैं, जिनकी उम्र तुमसे कम है,—कम चाहे एक-दो सालही क्यों न हो !

युवक कहते हैं कि उनके 'अविनयी' बन जाने की बहुत-कुछ ज़िम्मेदारी तुम वृद्धों पर है,—तुम लोगों ने बलात्कारपूर्वक उनसे आज्ञापालन कराने का हमेशाही प्रयत्न किया और इसीलिए वे तुम्हारे खिलाफ़ विद्रोही बन गये।

तुम्हारा उत्तर बिल्कुल सही है कि युवकों का यह आरोपभी पूर्ण अविनय से भरा हुआ है। तुम उसी युवक को विनयशील मानते हो, जो तुम्हारे सामने न तो आँख मिलाने की जुर्रत करता है, न मुहँ खोलने की,—जो बुज़ुर्गों के निर्णय को कभी शंका की दृष्टि से नहीं देखता, और उनकी बात का जवाब देना जो घोर पाप समझता है।

ऐसे विनयशील पुत्र-पौत्रादि तुम्हारे भाग्य में दुर्लभ हैं, अतः कलियुग को तुम प्रतिक्षण पानी पी-पीकर कोसते रहते हो,—वैसे ही, जैसे कि तुम्हारे पिता ने तुम्हें और तुम्हारे पितामह ने तुम्हारे पिता को कुपूत कहकर कोसा था।

तब क्यों न यह सिद्धान्त स्थिर कर लिया जाये कि बालक और युवक हर ज़माने के सब-के-सब कलियुगीही होते हैं, और वृद्धजन सब-के-सब सतयुगी ?

बुढ़ापे ने तुम्हारी दृष्टि को इतना तेज़ कर दिया है कि अनागत काल्पनिक खतरे को भी तुम बहुत दूर से देख लेते हो। इसीलिए दूसरों के किये पर तुम अत्यधिक आपत्ति करते हो। ऐसी कोईभी चीज़ तुम्हारी नज़र से नहीं गुज़री होगी, जिसपर तुमने कोई-न-कोई आपत्ति न उठाई हो। प्रतिक्षण चेताते रहने का तो तुम्हारा मानो स्वभावही बन गया है।

सलाह देना,—अक्सर बिना चाहे ही--तुम्हें बहुत पसन्द है। सलाह-भी तुम्हारी काफ़ी लम्बी होती है। 'ज़रा देखो, कुछ सोचो और समझो'—ये बुज़ुर्गाना शब्द तुम्हारी सलाह में ज़रूर रहेंगे। मौत कभी तुम्हें बुलाने आयेगी, तो उस नासमझ को भी तुम शायद ऐसीही नेक सलाह दोगे।

निरीक्षणों और अनुभवों का तुम्हारे सिर पर इतना भारी बोझ रखा हुआ है कि पैर मुश्किल से आगे को उठते हैं। क़दम किसी तरह उठभी गया, तो उसे आगे रखने में हिचक होती है। तुम्हारी परिमार्जित शंका-शीलता ने ही तुम्हें इतना अधिक सावधान बना दिया है!

तुम्हारी अनुभवसिद्ध सतर्कता का ही यह सुपरिणाम है, जो तुम हर बालक और हर युवक को सन्देह की दृष्टि से देखते हो। तुम्हारी यह वृद्धोचित धारणा बिल्कुल दुरुस्त है कि शंका या सन्देह से परे तो केवल एक तुम्हीं हो।

अपनी बात मनवाने में तुम बहुत ज़्यादा ज़िद किया करते हो, क्योंकि तुम्हें भरोसा है कि तुम्हारे सफेद बालों और इस पोपले मुहँ ने तुम्हें निस्सन्देह अन्तिम निर्णय पर पहुँचा दिया है, अतः तुम्हारी बात मान लेने में ही परमकल्याण है।

जगत् के प्रति तुम्हारी कल्याण-कामना इतनी अधिक बढ़ गई है कि युवकों को ही नहीं, बालकों को भी तुम अपने-जैसे ही समझदार, प्रशांत और धीरप्रकृति के देखना चाहते हो। तुम्हें कैसा लगता होगा उन्हें देखकर कि वे इतने चुलबुले, इतने अधीर, इतने अल्हड़ और ऐसे नासमझ आखिर क्यों हैं!

पर तुम शायद तब यह भूल जाते हो कि अज्ञानसूचक उनके कृष्णकेश अभी श्वेत कहाँ हुए हैं, अल्हड़ यौवन के प्रतीक दाँत अभी कहाँ झड़े हैं, उद्धतता की निशानी कमर अभी कहाँ झुकी है?

तुम्हारे हृदय में रह-रहकर जलन पैदा होती होगी कि इन बालकों और युवकों में क्यों इतना उबाल या उफान आ रहा है! ये उद्धत और उद्दंड प्राणी तुम्हारेही जैसे शिथिलांग और प्रशांत क्यों नहीं हो जाते!